विपाशा

पहला अंक/मार्च-अप्रैल, १९८५
भाषा-संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश का प्रकाशन
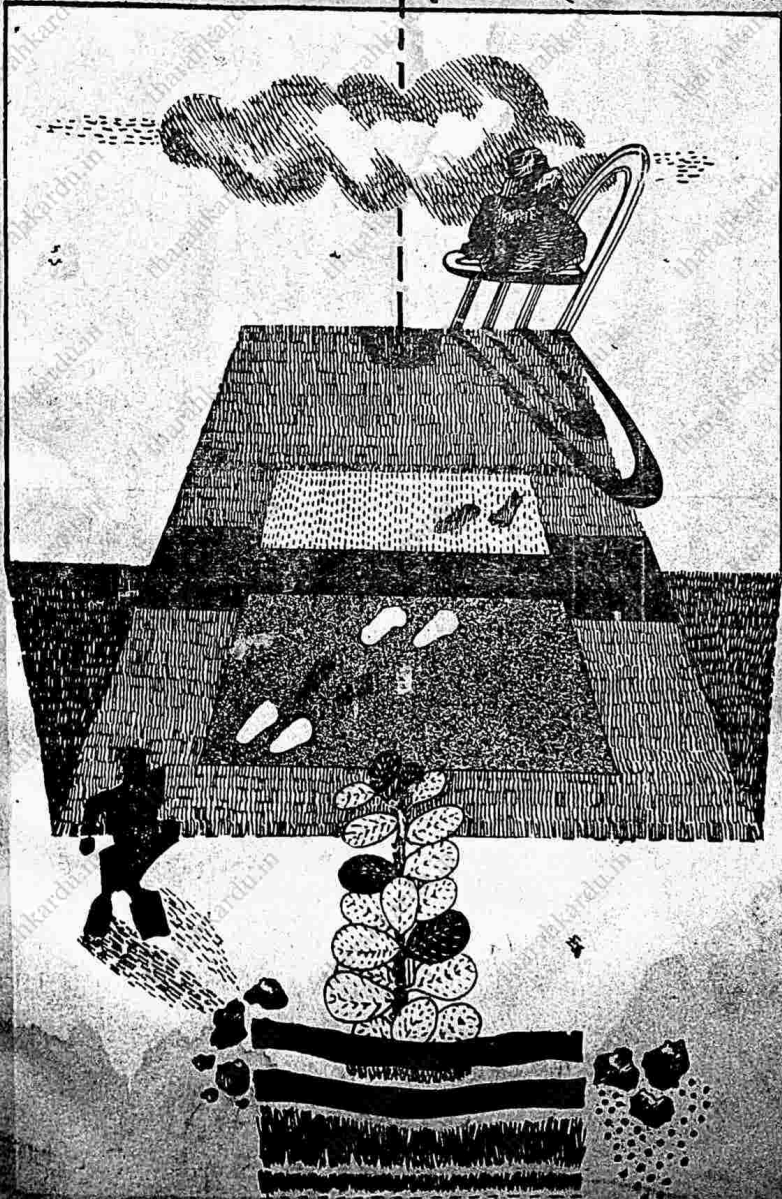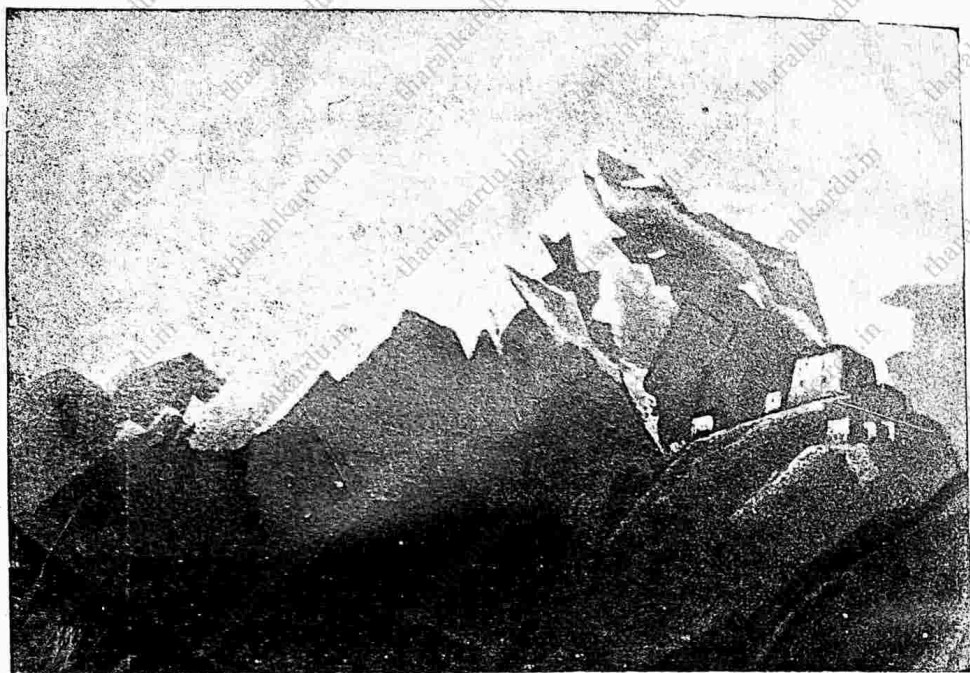
सप्तापो देवी : सुरणा अमृक्ता याभि : सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित् ।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्द : ॥

ऋक्-१०/१०४

ग्रमित गति वाली दिव्य सातों नदियां (हैं) जिनके साथ, हे गढ़ों को तोड़ने वाले इन्द्र, तुम सिन्धु
ए । देवों और मनुष्यों के उपकार के लिए तुमने निन्नानवे बहती नदियों को प्राप्त किया ।

साहित्य, संस्कृति एवं कलाओं की द्वैमासिक पत्रिका

पहला अंक/मार्च-अप्रैल, १९८५
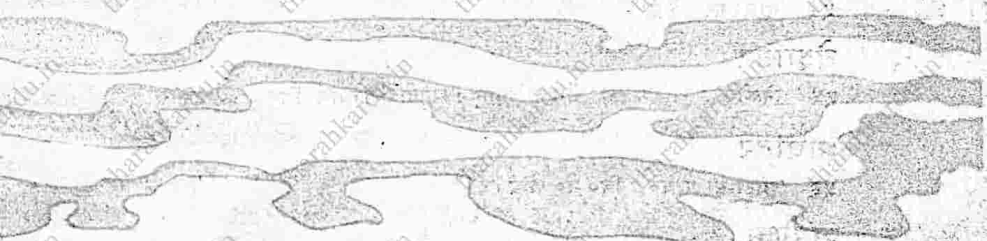
मुख्य संपादक
श्रीनिवास जोशी
निदेशक, भाषा एवं संस्कृति, हि० प्र०

संपादक
तुलसी रमण

वार्षिक शुल्क : छः रुपये, एक प्रति : एक रुपया

संपर्क : संपादक-विपाशा, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हि० प्र०
शिमला-१७१००१ दूरभाष : ३६६९

क्रम

आवरण : डिज़ाईन-हरिप्रकाश त्यागी, लोगो व भीतरी आवरण-अवधेश कुमार,
भीतरी रेखांकन-अरविंद रंचन

संपादकीय

बड़ी बिरादरी में अपनी पहचान

एक नयी पत्रिका शुरु करने का निश्चय हुआ, जिसके लिए नाम मिला—हिम संस्कृति । इस नाम से एक अंक प्रकाशित भी हुआ, जिसका भरपूर स्वागत होने के साथ-साथ नाम व विषयवस्तु में सामंजस्य को लेकर कुछ भ्रांतियां भी सामने आयीं ।

इधर अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के नामों में तो 'हिम' जुड़ा ही है; गाड़ी के नम्बर से लेकर दुकानों, संस्थानों और अनेक उपभोक्ता वस्तुओं आदि के नामों में भी यह शब्द जोड़ने का हमारा मोह या फैशन अति तक पहुंच गया है । इसे देखते हुए अधिकांश लेखकों व पाठकों का यह कहना सही है कि 'हिम' से जुड़े नामों की बाढ़ में चीजों की पहचान में ही गड़बड़ी होने लगी है, जब कि नाम का मूल उद्देश्य ही पहचान देना है । दूसरी ओर कुछ लोगों का तर्क यह भी रहा कि 'हिम संस्कृति' में भी यथा नाम तथा गुण के अन्तर्गत हिमाचल की संस्कृति से सम्बधित (कविता, कहानी आदि सृजनात्मक विधाओं को छोड़कर) लेख ही प्रकाशित होने चाहिए । वैसे तो यह बात नाम का महज शाब्दिक अर्थ लेकर मनुष्य के सर्जनात्मक क्रिया-कलापों और सौन्दर्यबोधात्मक अभिरुचियों से जुड़ने वाले 'संस्कृति' जैसे शब्द को एकदम संकीर्णता में देखने-समझने के फलस्वरूप ही है, लेकिन हमारा साहित्यिक समाज ही ऐसे लोगों से कहां मुक्त है जिन्हें कविता, कहानी आदि सृजनात्मक लेखन में ही संस्कृति नहीं जान पड़ती ! यहां तो विषयवस्तु से जुड़ने वाली यह बात पत्रिका की मूल योजना के ही विपरीत ठहरती है। क्योंकि इस पत्रिका का उद्देश्य केवल क्षेत्रीयता के कूप खोदने के खिलाफ समकालीन साहित्य की सृजनात्मक विधाओं की पूरी व्यापकता के साथ प्रदेश के लेखकों व पाठकों को जोड़ कर इधर के सृजन को एक बड़ी बिरादरी में शामिल करना है।

प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत को लेकर हिमाचल अकादमी द्वारा स्वतन्त्र रूप से शोध पत्रिका सोमसी (त्रैमासिक) तथा पहाड़ी भाषा-साहित्य की पत्रिका हिमभारती (त्रैमासिक) प्रकाशित की जाती हैं। लोक संपर्क विभाग के गिरिराज (साप्ताहिक) और हिमप्रस्थ (मासिक) में भी ऐसी रचनाएं सम्मिलित होती हैं। प्रादेशिक पत्रिकाओं की विषयवस्तु में घालमेल से बचते हुए, एक ऐसी पत्रिका का अभाव पूरा हो जिसके माध्यम से प्रदेश के रचनाकारों की बेहतरीन

क्रम

निधि

साक्षात्कार

कहानी/व्यंग्य

कविताएं

देशांतर

भाषांतर

समीक्षा

लेख

आवरण : डिज़ाईन-हरिप्रकाश त्यागी, लोगो व भीतरी आवरण-अवधेश कुमार,
भीतरी रेखांकन-अरविंद रंचन

संपादकीय

बड़ी बिरादरी में अपनी पहचान

एक नयी पत्रिका शुरु करने का निश्चय हुआ, जिसके लिए नाम मिला—हिम संस्कृति। इस नाम से एक अंक प्रकाशित भी हुआ, जिसका भरपूर स्वागत होने के साथ-साथ नाम व विषयवस्तु में सामंजस्य को लेकर कुछ भ्रांतियां भी सामने आयीं।

इधर अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं के नामों में तो 'हिम' जुड़ा ही है; गाड़ी के नम्बर से लेकर दुकानों, संस्थानों और अनेक उपभोक्ता वस्तुओं आदि के नामों में भी यह शब्द जोड़ने का हमारा मोह या फैशन अति तक पहुंच गया है। इसे देखते हुए अधिकांश लेखकों व पाठकों का यह कहना सही है कि 'हिम' से जुड़े नामों की बाढ़ में चीजों की पहचान में ही गड़बड़ी होने लगी है, जब कि नाम का मूल उद्देश्य ही पहचान देना है। दूसरी ओर कुछ लोगों का तर्क यह भी रहा कि 'हिम संस्कृति' में भी यथा नाम तथा गुण के अन्तर्गत हिमाचल की संस्कृति से सम्बधित (कविता, कहानी आदि सृजनात्मक विधाओं को छोड़कर) लेख ही प्रकाशित होने चाहिए। वैसे तो यह बात नाम का महज़ शाब्दिक अर्थ लेकर मनुष्य के सर्जनात्मक क्रिया-कलापों और सौन्दर्यबोधात्मक अभि-रुचियों से जुड़ने वाले 'संस्कृति' जैसे शब्द को एकदम संकीर्णता में देखने-समझने के फलस्वरूप ही है, लेकिन हमारा साहित्यिक समाज ही ऐसे लोगों से कहां मुक्त है जिन्हें कविता, कहानी आदि सृजनात्मक लेखन में ही संस्कृति नहीं जान पड़ती! यहां तो विषयवस्तु से जुड़ने वाली यह बात पत्रिका की मूल योजना के ही विपरीत ठहरती है। क्योंकि इस पत्रिका का उद्देश्य केवल क्षेत्रीयता के कूप खोदने के खिलाफ समकालीन साहित्य की सृजनात्मक विधाओं की पूरी व्यापकता के साथ प्रदेश के लेखकों व पाठकों को जोड कर इधर के सृजन को एक बड़ी बिरादरी में शामिल करना है।

प्रदेश की सांस्कृतिक विरासत को लेकर हिमाचल अकादमी द्वारा स्वतन्त्र रूप से शोध पत्रिका सोमसी (त्रैमासिक) तथा पहाड़ी भाषा-साहित्य की पत्रिका हिमभारती (त्रैमासिक) प्रकाशित की जाती हैं। लोक संपर्क विभाग के गिरिराज (साप्ताहिक) और हिमप्रस्थ (मासिक) में भी ऐसी रचनाएं सम्मिलित होती हैं। प्रादेशिक पत्रिकाओं की विषयवस्तु में घालमेल से बचते हुए, एक ऐसी पत्रिका का अभाव पूरा हो जिसके माध्यम से प्रदेश के रचनाकारों की बेहतरीन

रचनाएं बाहर पढ़ी जाए और प्रदेश के पाठकों को कहां, क्या और कैसा लिखा जा रहा है, इस बात से अवगत कराने के लिए बाहर के लेखकों की रचनाएं भी उपलब्ध हों। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए अपनी जमीन की पहचान के साथ निकाली जाने वाली इस पत्रिका की आधार योजना बनाई गयी है।

बहुत बार हम यह भूल जाते हैं कि पत्रिका महज लेखकों के लिए न होकर पाठकों के लिए भी होती है। ऐसा सरकारी पत्रिकाओं के साथ तब अधिक होता है जब लेखक भी बहुमुखी विकास योजना के अन्तर्गत छपने-छपाने जैसी सुविधा की अपेक्षा करने लगता है। यह बात सही है कि लेखक की अपेक्षाएं भी पत्र-पत्रिकाओं से जुड़ी हैं, लेकिन पाठक को किसी साहित्यिक प्रकाशन तथा उसके लेखकों से जो अपेक्षाएं होती हैं उनकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती। आखिर पाठक जगत् के विस्तार में ही रचनाकार का सुख निहित होता है।

नाम को लेकर होने वाली भ्रांतियों को शुरु में ही दूर किया जाए, इस सोच के तहत नया नाम लेने का निश्चय किया गया। इसमें समय तो लगा, लेकिन हमें शायद पहले से कहीं बेहतर एक शब्द का यह बहुआयामी प्रतीकात्मक-सा नाम मिला— विपाशा। सतलुज (शतद्रु) व्यास (विपाशा) और रावी (परूष्णी) हिमाचल प्रदेश से बहने वाली तीन प्राचीन नदियां हैं जो आज भी यहां की लोक-नदियां कही जा सकती हैं। पीरपांजाल पर्वत शृंखला के रोहतांग से निकलकर प्रदेश के मध्य से होकर बहने वाली आज की व्यास का प्राचीन नाम है—विपाशा। महर्षि वशिष्ठ को पाशमुक्त करने से 'विपाशा' हुई, समस्त जीवों का लालन-पालन करने वाली नदियों में एक, सुदूर प्राचीन से लेकर अधुनातन जन-जीवन की साक्षी इस प्रवहमान मुक्तिदायिनी नदी का पवित्र जल पहाड़ से समुद्र तक के विस्तार को समेटता है।

'विपाशा' का यह पहला अंक आपके हाथों में है। संशोधित योजना और नये नाम के साथ पहले से कुछ अधिक सार्थक सामग्री जुटाने का हमारा प्रयास रहा है। ज़ाहिर है सबकी अपेक्षाओं को पूरा करना, और वह भी शुरुआत में ही संभव नहीं हो सकता। लेखकों के रचनात्मक सहयोग और पाठकों की स्वस्थ्य प्रतिक्रिया की बराबर अपेक्षा रहेगी। जिन रचनाकारों ने इस अनिश्चितता की स्थिति में भी रचनाएं दीं उनके प्रति आभार के साथ उन पाठकों से विलम्ब के लिए हम क्षमा चाहेंगे जिन्हें इसका इन्तज़ार रहा है।

—तुलसी रमण

निधि

□ आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

देश, भाषा व कविता

देश प्रेम

यदि किसी को अपने देश से प्रेम है, तो उसे अपने देश के मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, गुल्म, पेड़, पत्ते, वन, पर्वत, नदी, निर्झर सबसे प्रेम होगा, सबको वह चाह की दृष्टि से देखेगा, सबकी सुध करके वह विदेश में आंसू बहायेगा। जो यह भी नहीं जानते कि कोयल किस चिड़िया का नाम है, जो यह भी नहीं सुनते कि चातक कहां चिल्लाता है, जो आंख भर यह भी नहीं देखते कि आम प्रणय-सौरभपूर्ण मंजरियों से कैसे लदे हुए हैं; जो यह भी नहीं झांकते कि किसानों के झोपड़ों के भीतर क्या हो रहा है, वे यदि दस बने-ठने मित्रों के बीच प्रत्येक भारतवासी की औसत आमदनी का परता बताकर देश-प्रेम का दावा करें तो उनसे पूछना चाहिए कि भाईयो बिना परिचय का यह प्रेम कैसा? जिनके सुख-दुख के तुम कभी साथी न हुए उन्हें तुम सुखी देखना चाहते हो, यह समझते नहीं बनता। उनसे कोसों दूर बैठे-बैठे, पड़े-पड़े या खड़े-खड़े तुम बिलायती बोली में अर्थ शास्त्र की दुहाई दिया करो, पर प्रेम का नाम उसके साथ न घसीटो। प्रेम हिसाब-किताब की बात नहीं है। हिसाब किताब करने वाले भाड़े पर भी मिल सकते हैं पर प्रेम करने वाले नहीं। हिसाब-किताब से देश की दशा का ज्ञान मात्र हो सकता है। हित चिंतन और हित साधन की प्रवृत्ति इस ज्ञान से भिन्न

है। वह मन के बेग पर निर्भर है उसका सम्बन्ध लोभ या प्रेम से है जिसके बिना आवश्यक त्याग का उत्साह हो ही नहीं सकता।

देश प्रेम की दुहाई देने वालों में से कितने अपने थके-मांदे भाई के फटे-पुराने कपड़ों और धूल भरे पैरों पर रीझकर या खीझ कर, बिना मन मैला किए कमरे की फर्श भी मैली होने देंगे? मोटे आदमियों! तुम ज़रा-सा दुबले हो जाते—अपने अंदेशों से सही—तो न जाने कितनी ठठरियों पर मांस चढ़ जाता।

अब पूछिए कि जिनमें ये देश-प्रेम नहीं है उनमें वह किसी प्रकार भी हो सकता है? हां, हो सकता है—परिचय से, सानिध्य से। जिस प्रकार लोभ से सानिध्य की इच्छा उत्पन्न होती है उसी प्रकार सानिध्य से भी लोभ या प्रेम की प्रतिष्ठा होती है। जिनके बीच हम रहते हैं, जिन्हें हम बराबर सुनते हैं, जिनका हमारा दो घड़ी का साथ हो जाता है; सारांश यह है कि जिनके सानिध्य का हमें अभ्यास पड़ जाता है, उनके प्रति लोभ या राग हो जाता है। जिस स्थान पर कोई बहुत दिनों तक रह जाता है उसे छोड़ते हुए दुःख होता है। पशु और बालक भी जिनके साथ अधिक रहते हैं उन्हें परच जाते हैं। यह 'परचना' परिचय से निकलता है। प्रेम परिचय का प्रवर्तक है। बिना परिचय के प्रेम नहीं हो सकता। यदि देश-प्रेम के लिए हृदय में जगह करनी है तो देश के स्वरूप से परिचित और अभ्यस्त हो जाओ। बाहर निकलो तो आंखें खोलकर देखो कि खेत कैसे लहलहा रहे हैं, नाले झाड़ियों के बीच कैसे बह रहे हैं, टेसू के फूलों से वनस्पति लाल हो रही है, चौपाये के झुंड चरते हैं, चरवाह तान लड़ा रहे हैं, अमराइयों के बीच में गांव झांक रहे हैं। उसमें घुसो देखो क्या हो रहा है। जो मिले उनसे दो-दो बातें करो, उनके साथ किसी पेड़ की छाया के नीचे घड़ी-आध घड़ी बैठ जाओ। इस प्रकार जब देश का रूप तुम्हारी आंखों में समा जाएगा तुम उसके अंग-प्रत्यंग से परिचित हो जाओगे तब तुम्हारे अंतःकरण में इस इच्छा का उदय होगा कि वह हमसे कभी न छूटे, वह सदा हरा-भरा और फूला-फला रहे, उसके धन-धान्य की वृद्धि हो, उसके सब प्राणी सुखी रहें। यह तो वर्तमान प्रेम-सूत्र हुआ। अतीत की ओर दृष्टि फैलाओ। राम, कृष्ण, भीम, अर्जुन, विक्रम, कालिदास, भवभूति, इत्यादि का स्मरण करो जिससे ये सब नाम तुम्हारे हो जाएं। इनके नाते भी यह और इस भूमि के निवासी तुम्हें प्रिय होंगे।

पर आजकल इस प्रकार का परिचय बाबुओं की लज्जा का एक विषय हो रहा है। वे देश के स्वरूप से अनजान रहने या बनने में अपनी बड़ी शान

समझते हैं। मैं अपने एक लखनवी दोस्त के साथ सांची का स्तूप देखने गया। यह स्तूप एक बहुत सुन्दर छोटी-सी पहाड़ी के ऊपर है, नीचे एक छोटा-सा जंगल है, जिसमें महुए के पेड़ भी बहुत-से हैं। संयोग से उन दिनों पुरातत्व विभाग का कैम्प पड़ा हुआ था। रात हो जाने से हम लोग उस दिन स्तूप नहीं देख सके। सवेरे देखने का विचार करके नीचे उतर रहे थे। मेरे मुंह से निकला—महुए की कैसी मीठी महक आ रही है। इस पर लखनवी महाशय ने मुझे रोककर कहा, यहां महुए-शहुए का नाम न लीजिए, लोग देहाती समझेंगे।' मैं, चुप हो गया, समझ गया कि महुए का नाम जानने से बाबूपन में बड़ा भारी बट्टा लगता है।

□ 'लोभ और प्रीति' शीर्षक निबन्ध का अंश

राष्ट्र भाषा

हमारे व्यावहारिक और भावात्मक जीवन से जिस भाषा का सम्बन्ध सदा से चला आ रहा है वह पहले चाहे जो कुछ कही जाती हो, अब हिन्दी कही जाती है। इसका एक-एक शब्द हमारी सत्ता का व्यंजक है, हमारी संस्कृति का संपुट है, हमारी जन्म-भूमि का स्मारक है, हमारे हृदय का प्रतिबिम्ब है, हमारी बुद्धि का वैभव है। देश की जिस प्रकृति ने हमारे हृदय में रूप रंग भरा है उसी ने हमारी भाषा का भी रूप रंग खड़ा किया है। यहां के वन, पर्वत, नदी नाले, वृक्ष, लता, पशु, पक्षी सब इसी हमारी बोली में अपना परिचय देते हैं और अपनी ओर हमें खींचते हैं। इनकी सारी रूप छटा, सारी भावभंगी हमारी भाषा मे और हमारे साहित्य में समाई हुई है। यह वही भाषा है जिसकी धारा कभी संस्कृत के रूप में थी, फिर प्राकृत और अपभ्रंश के रूप में और इधर हजार वर्ष से इस वर्तमान रूप में जिसे हिन्दी कहते हैं—लगातार बहती चली आ रही है। यह वही भाषा है जिसमें सारे उत्तरीय भारत के बीच चन्द और जगनिक ने वीरता की उमंग उठाई; कबीर, सूर और तुलसी ने भक्ति की धारा बहाई, बिहारी, देव और पद्माकर ने श्रृंगार रस की वर्षा की, भारतेंदु हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र ने आधुनिक युग का आभास दिया और आज व्यापक दृष्टि फैलाकर मानव जगत् के मेल में लाने वाली भावनाएं भर रहे हैं। हजारों वर्षों से यह दीर्घ परंपरा अखंड चली आ रही है। ऐसी भव्य परंपरा का गर्व जिसे न हो वह भारतीय नहीं।

□ 'हिन्दी' मार्च, १९४१ ई० में छपे लेख का अंश

कविता और कवि

···कविता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि संसार की सभ्य और असभ्य सभी जातियों में पायी जाती है। चाहे इतिहास न हो, विज्ञान न हो, दर्शन न हो, पर कविता अवश्य ही होगी। इसका क्या कारण है? बात यह है कि संसार के अनेक कृत्रिम व्यापारों में फंसे रहने से मनुष्य की मनुष्यता जाती रहने का डर रहता है। अतएव मानुषी प्रकृति को जागृत रखने के लिए ईश्वर ने कविता रूपी औषधी बनाई है। कविता यही प्रयत्न करती है कि प्रकृति से मनुष्य की दृष्टि फिरने न पावे। जानवरों को इसकी ज़रुरत नहीं···।

··कविता मनोवेगों को उत्तेजित करने का उत्तम साधन है।··· कविता हमारे मनोवेगों को उच्छ्वासित करके हमारे जीवन में एक नया जीव डाल देती है। हम सृष्टि के सौन्दर्य को देख कर मोहित होने लगते हैं। कोई अनुचित या निष्ठुर काम हमें असह्य होने लगता है। हमें जान पड़ता है कि हमारा जीवन कई गुना अधिक होकर समस्त संसार में व्याप्त हो गया है।

□ 'कविता क्या है' शीर्षक लेख के अंश

···हमारे यहां काव्य का लक्ष्य है जगत् और जीवन के मार्मिक पक्ष को गोचर रूप में लाकर सामने रखना जिससे मनुष्य अपने व्यक्तिगत संकुचित घेरे से अपने हृदय को निकालकर उसे विश्वव्यापिनी और त्रिकाल वर्तिनी अनुभूति में लीन करे। इसी लक्ष्य के भीतर जीवन के ऊंचे से ऊंचे उद्देश्य आ जाते हैं।

···सच्चे कवि राजाओं की सवारी, ऐश्वर्य की सामग्री में ही सौन्दर्य नहीं ढूंढा करते। वे फूस के झोंपड़ों, धूल मिट्टी से सने किसानों, बच्चों के मुंह में चारा डालते हुए पक्षियों, दौड़ते हुए कुत्तों और चोरी करती हुई बिल्लियों में कभी-कभी ऐसे सौन्दर्य का दर्शन करते हैं जिसकी छाया महलों और दरबारों तक नहीं पहुंच सकती। श्रीमानों के शुभागमन पर पद्य बनाना, बात-बात में उनको बधाई देना, उनका काम नहीं। जिनके रूप या कर्मकलाप जगत् और जीवन के बीच में उसे सुन्दर लगते हैं उन्हीं के वर्णन में वह 'स्वान्तः सुखाय' प्रवृत्त होता है।

□ १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में सभापति पद से पठित भाषण के अंश

वाद वृक्ष

......आज कल पाश्चात्य वाद वृक्षों के बहुत से पत्ते--कुछ हरे नीचे हुए, कुछ सूख कर गिरे पाए हुए—यहां पारिजात पत्र की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिससे साहित्य के उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आंखें खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं, पर यह बात हो नहीं रही है। योरप के समीक्षा क्षेत्र में नवीनता और अमूठेपन की झोंक में काव्य के सम्बन्ध में न जाने कितनी अत्युक्त बातें चला करती हैं —जैसे 'कला कला ही के लिए है,' 'अभिव्यंजना ही सब कुछ है, अभिव्यंग्य कोई वस्तु नहीं,' 'काव्य में बुद्धि घातक होती है' इत्यादि इत्यादि। 'कला कला ही के लिए' का शोर योरप में तो बंद हुआ, पर यहां उसकी गूंज अब तक सुनाई दिया करती है। ...

□ १९३५ में हिन्दी साहित्य सम्मेलन के इन्दौर अधिवेशन में सभापति पद से पठित भाषण का अंश

टका धर्म

......आजकल मनुष्य की सारी बातें धातु के ठीकरों पर ठहरा दी गई हैं। सबकी टकटकी टके की ओर लगी हुई है। जो बातें पारस्परिक प्रेम की दृष्टि से, न्याय की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से की जाती थी, वे भी रुपये पैसे की दृष्टि से होने लगी हैं। पैसे से राज सम्मान की प्राप्ति और न्याय तक की प्राप्ति होती है। जिनके पास कुछ रुपया है वे बड़े-बड़े विद्यालयों में अपने लड़कों को भेज सकते हैं, न्यायालयों में फीस देकर अपने मुकद्दमे दाखिल कर सकते हैं और मंहगे वकील बैरिस्टर करके बढ़िया खासा निर्णय करा सकते हैं। अत्यन्त भीरू और कायर होकर बहादुर कहला सकते हैं। राज धर्म, आचार्य धर्म, वीर-धर्म सब पर सोने का पानी फिर गया। सब टका धर्म हो गये। धन की पैठ मनुष्य के सब कार्य क्षेत्रों में करा देने से उसके प्रभाव को इतना अधिक विस्तृत कर देने से, ब्राह्मण धर्म और क्षात्र धर्म दोनों का लोप हो गया। केवल वणिग्धर्म रह गया। व्यापार नीति राजनीति का प्रधान अंग हो गया है। बड़े-बड़े राज्य माल की बिक्री के लिए लड़ने वाले सौदागर हो गये हैं। ...जब तक यह व्यापारोन्माद दूर न होगा तब तक इस पृथ्वी पर सुख शान्ति न होगी। ●

□ 'क्षात्र धर्म का सौन्दर्य' निबन्ध का अंश

आचार्य रामचंद्र शुक्ल और हिन्दी की आलोचना-दृष्टि

□ प्रभाकर श्रोत्रिय

किसी भाषा के विभिन्न समयों में लिखे साहित्य; समाज और सृजन की विरासत; विकास मूलक वर्तमान की सही समझ और उसके संवेदन-केन्द्रों की परख से उत्पन्न आलोचना-दृष्टि ही उस भाषा की आलोचना-दृष्टि है। फिर भी यह जरुरी नहीं है कि यह हमेशा साहित्य और समाज के पीछे ही चले, वह साहित्य और समाज दोनों से टकरा भी सकती है और दिशा के संधान में उनकी अगुवाई भी कर सकती है। मान लीजिए कि समाज में गलत समीकरण होते हैं। घृणा, काहिली, शोषण आदि की प्रवृत्तियां पनपती हैं; उसके सोच में संकीर्णता पैदा हो जाती है। मान लीजिए कि रचना में भी ऐसी प्रवृत्तियां पनपती हैं; वह कुछ लोगों के मानस-विलास की सामग्री बन रह जाती है या उसमें और खामियां पैदा हो जाती हैं, तो आलोचना उसके विरोध में खड़ी हो सकती है — उसे होना भी चाहिए। वह अपने होने की सार्थकता तभी प्रकट कर सकती है जबकि वह एक सजग सेंसर और दूरंदेशी वाले मित्र का रवैया अख्तियार कर सके। आधुनिक आलोचना केवल व्याख्या, विवेचना या रस-बोध का सहायक उपकरण नहीं रही है, वह एक विशिष्ट और किसी हद तक एक स्वतन्त्र रचना-चेतना है। वह सिर्फ लेखक-पाठक के लिए ही नहीं 'मनुष्य' के प्रति भी उत्तरदायी है। उसे खारिज कर देने का जो उत्साह दिखाई पड़ता रहा है उसके प्रतिरोध में वह तभी खड़ी हो सकती है, जब कि वह वादी-प्रतिवादी जैसी सीमाओं से आगे बढ़ कर व्यापक मानवीय अपील और सोच का केन्द्र बने।

हिन्दी मूलतः जन-भाषा है। उसके साहित्य की अब तक की ८० प्रतिशत ज़िन्दगी लोक-भाषाओं के बीच ही कटी है। उसका साहित्य भी पंडितों, कलावंतों के बीच अथवा दरबारों में नहीं जन्मा। सिद्धों, नाथों, जैनों की

समाजोन्मुख चेतना ने उसकी जन्म-कुंडली बनाई है। आगे जाकर भक्त और संत कवियों ने उसे व्यापक जनाधार दिया। रीतिकालीन कलावादी प्रवृत्ति के अंतराल बाद भारतेन्दु युग में पुनः वह पटरी पर आ गई। बाद का भी अधिकांश साहित्य राष्ट्र और समाज के विविध पक्षों से जुड़ा रहा। इसलिए हिन्दी आलोचना की प्रकृत राह लोक-चेतना और लोक-मंगल की राह है। इस इतिहास को भूल कर हिन्दी की कोई आलोचना वह दिशा नहीं पा सकती जिस ओर उसे जाना है।

संयोगवश हिन्दी आलोचना को सही अर्थों में जो प्रथम और उत्कृष्ट आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के रूप में मिले उनकी आलोचना-दृष्टि लोक-मंगल की बुनियाद पर खड़ी थी। सृजन और शास्त्र की विरासत को अपने भीतर लगातार परिशुद्ध करते हुए; लोक-हृदय और लोक-जीवन की मार्मिकताओं से तदाकार होते हुए आचार्य शुक्ल ने अपने लोक-वादी स्वभाव के अनुरूप जिस आलोचना-दृष्टि को विकसित किया, वह हिन्दी की अपनी आलोचना-दृष्टि है। उन्होंने न तो अपनी विरासत का ही अनुकरण किया, न पाश्चात्य साहित्य और साहित्यालोचन का – बल्कि अवांछित को भरपूर छांटा और वांछित का विवेक सम्मत इस्तेमाल किया। साहित्य के इतिहास को मनुष्य की चित्तवृत्ति के इतिहास के रूप में पहले पहल समझा। यों चित्तवृत्ति को लेकर ही काफ़ी खींचतान हुई लेकिन शुक्ल जी का इससे इकहरा अर्थ नहीं था यह उनके इतिहास से स्पष्ट है। शुक्ल जी ने सामाजिक और सृजन-दृष्टि से सैधांतिक और व्यवहारिक दोनों दिशाओं में महत्वपूर्ण काम किया। जहां उन्होंने मनुष्य के आयामों को प्रकृति कीट पतंग से लगाकर अपने समूचे परिवेश से प्यार करने तक विस्तृत किया और उन जगहों में सौन्दर्य दिखाया, जहां सामान्यतः आदमी की निगाह नहीं जाती; वहीं उन्होंने सच्चे और लोकान्वेषी साहित्य को गरिमामय आसन पर प्रतिष्ठित भी किया और कला की विलास वृत्ति पर भरपूर चोटें की, सिद्धान्त की दृष्टि से एक तरह से उन्होंने भारत की पारम्परिक आलोचना का उद्धार और कायाकल्प किया, वहीं उसमें नई दृष्टि की जीवंतता पैदा की। 'रस' को अलौकिक भूमि से उतार कर लौकिक भूमि पर प्रतिष्ठित किया। उसे ब्रह्मानन्द सहोदर न मानकर लोक-हृदय में हृदय की एकात्मता को रसानुभूति के रूप में लोगों के गले उतारा। अलंकार, रीति, वक्रोक्ति आदि पारम्परिक प्रतिमानों में निहित प्रदर्शन और चमत्कार-वृत्ति की भर्त्सना की। पाश्चात्य अभिव्यंजनावाद, व्यक्तिवैचित्र्यवाद, रोमानी वायवीयता वगैरह को आड़े हाथों लिया। साहित्य में रहस्यवाद का विरोध करने पर शुक्ल जी को उस समय काफी विरोधों का सामना करना पड़ा। लेकिन वे अडिग रहे। क्योंकि वे उसे रचना के लिए वांछित नहीं पाते थे। आड़ उन्होंने भले भारतीय काव्य परंपरा की ली हो और उसे विदेशी माना हो, लेकिन इसके

पीछे उनकी लोक-दृष्टि का ही आग्रह था। वे काव्य को लौकिक वस्तु मानते थे और अलौकिक, अतींन्द्रिय माध्यमों को अपनी लौकिक दृष्टि के अनुकूल नहीं पाते थे। वरना इस बात पर इतना उलझे बिना भी काम चल सकता था। साहित्य में लोकधर्मी आलंबन पर ज़ोर देते हुए लोभ, शोषण, एकांतिकता वगैरह सेठाश्रयी प्रवृत्तियों, प्रकृति के इकतरफा विलास रूपायनों और चमक-दमक, बारीकी वगैरह कलावादी प्रवृत्तियों का उन्होंने सैद्धांतिक और व्यवहारिक आलोचना में बड़ी ही दमदार भाषा में तब विरोध किया था, जब हिन्दी में प्रगतिशील सोच और प्रगतिशील आंदोलन का प्रवेश तक न हुआ था। इससे ज़ाहिर होता है कि किसी परिवेश या आलोचना की पूर्वपरंपरा की, उस तरह की अनुपस्थिति के बावजूद उन्होंने जो धारणाएं दीं वे उनकी आंतरिक चेतना और मानवीय विवेक से पैदा हुई थीं। साहित्य में शील, शक्ति और सौन्दर्य की सर्जनात्मक प्रतिष्ठा और साधनावस्था को शीर्षस्थ स्थान देना शुक्ल जी की उस अदम्य भास्वरता को दिखाता है, जिसके तहत उन्होंने परम्परा और आधुनिकता को समूचे मानवीय कल्याण और मानवीय संघर्ष के संदर्भ में देखा।

वैसे कोई भी लेखक चुनौती से परे नहीं होता, शुक्ल जी भी नहीं हैं; लेकिन वे हिन्दी के अपने आलोचक हैं। फर्ज़ कीजिए कि अगर शुक्ल जी न हुए होते तो हिन्दी का सृजन और चिंतन किन वियावानों में भटक जाता? क्योंकि आगे चलकर ऐसे कितने मौके आए? मैं यहां तक कह सकता हूं कि उन्हीं की वजह से हिन्दी आलोचना, पश्चिमी वादों और रचना-आंदोलनों के अनावश्यक प्रवाह में बहने से काफी हद तक बच सकी है। लोग छायावाद की आलोचना के मामले में शुक्ल जी की समझ की सीमा मानते हैं; जो है भी; लेकिन वे यह क्यों नहीं सोचते कि उनकी 'पाश्चात्य समझदारी' पर शुक्ल जी के विचारों ने ही लगाम लगाई है, वरना छायावाद की परवर्ती रचनाओं में जिस सामाजिक चेतना का विकास हुआ और उस पर विचार करते हुए जो राष्ट्रीय और मानवीय भूमिका की ज़रुरत महसूस की गई, वह शायद नहीं की जाती या उस शिद्दत से नहीं की जाती। पाठक, लेखक और आलोचक को शुक्ल जी ने जो दिशा निर्देश दिया और जो मानसिकता बनाई। उससे वे भटक नहीं सके, और भटके भी तो जल्द लौट आए। समाज सापेक्ष आलोचना को शुक्ल जी से कितनी परोक्ष मदद मिली इसकी खोज करना अभी बाकी है।

आचार्य शुक्ल के पूर्ववर्ती और समकालीन आलोचकों में मिश्रबन्धु, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, श्याम सुन्दर दास आदि की भी महत्वपूर्ण भूमिका थी। वैसे पिछले दिनों डा० रामविलास शर्मा ने आचार्य द्विवेदी के

आलोचक व्यक्तित्व पर एक नई रोशनी डाली है और ऐसा लगता है कि उनके सम्पादक और भाषा संशोधक रूप की प्रबलता के कारण उनका यह आलोचक व्यक्तित्व दवा रह गया, अन्यथा प्रगतिशील विचारधारात्मक आलोचना-चिंतन की शुरुआत उनसे मानी जाती। अन्य आलोचक प्रायः शुक्ल जी के तेज के आगे फीके पड़ गए और अगर न भी पड़ते तब भी उनका योगदान ऐतिहासिक ही माना जाता। इनकी आलोचना दृष्टि साफ नहीं थी और ज्यादा-तर ये अतीन्तोन्मुख आलोचक थे।

शुक्ल जी की परवर्ती आलोचना विभिन्न दिशाओं में आगे बढ़ी, हालांकि उन जैसा समग्र आलोचक और इतिहासकार हिन्दी में दूसरा नहीं हुआ। यद्यपि आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी का आलोचक व्यक्तित्व छायावाद की शुक्लोत्तर समीक्षा को नया आयाम देने की दृष्टि से उल्लेखनीय है। फिर भी वे शुक्ल जी के भूल-सुधारक के रूप में जन्मे और आगे चलकर छाया-वाद और खास कर जयशंकर प्रसाद के सम्बन्ध में उनकी नई आलोचना स्वीकृत और मान्य हुई। छायावादी मूल होने के कारण स्वभावतः उन्होंने रचना और रचनाकार की अंतर्वृत्ति और कला के सौष्ठव की वकालत की। छायावाद की राष्ट्रीय और प्रासंगिक भूमिका के उद्घाटन का भी महत्वपूर्ण काम उनसे हुआ। छायावाद की परिभाषा करते हुए उन्होंने स्वीकारा कि वह 'विकासशील मानव-जीवन के महत्वपूर्ण' और मार्मिक अंशों की अभिव्यक्ति हैं।' वाजपेयी जी ने रावण और कुंठित मनोवृत्तियों के महत्व की 'एकांत' स्वीकृति वाले आंदोलनों को 'साहित्य को अंधेरी गलियों में ले जाने वाला' निरूपित किया। छायावाद की अंतर्वृत्ति और उदात्तता पर वल देने के साथ रुग्ण और कुंठित मनोवृत्तियों पर उनका इतना भी प्रहार कि वे भले उपस्थित हों, लेकिन उनकी एकांत स्वीकृति न हो, यह जाहिर करता है कि शुक्ल जी की समाज-चेता आलोचना के प्रभाव से वे मुक्त नहीं थे। अपनी नई भाषा और भंगिमा के बावजूद उनकी आलोचना-दृष्टि स्वच्छंदता का 'एकांत' समर्थन न कर सकी।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी प्रमुखतः, नई शोधों के आधार पर शुक्ल जी के वीरगाथा काल को चुनौती देने और उसमें नया जोड़ सकने की क्षमता के कारण विख्यात हुए। परवर्ती विद्वानों ने आचार्य द्विवेदी के संशोधन को मान्य किया। आदिकालीन साहित्य के मार्मिक और अन्वेषी विद्वान के रूप में आचार्य द्विवेदी का सिक्का बैठा हुआ है। उन्होंने साहित्य के इतिहास को शुक्ल जी से अलग हट कर, 'जन-चेतना का इतिहास' कहा। दोनों की युक्तियुक्तता पर टिप्पणी करना फिलहाल मेरा उद्देश्य नहीं है।

हां, केवल यह कहना चाहता हूं कि शुक्ल जी का आग्रह भावात्मक है और द्विवेदी जी का बौद्धिक। यह युग का भी प्रभाव है। हालांकि ये एक दूसरे से ऐसे विच्छिन्न नहीं हैं जैसा समझा जाता है। द्विवेदी जी ने साहित्य की मानवीय, सांस्कृतिक और सृजनात्मक मूल्यवता पर बल दिया और घोषित किया कि मनुष्य ही साहित्य का लक्ष्य है। उन्होंने उन-उन लोकचेता कवियों और संतों पर से अंधेरे का पर्दा उठाया, जिन्हें शुक्ल जी अपने आलोचनात्मक रूझानों के कारण, अथवा उचित जानकारी के अभाव में महत्व नहीं दे सके थे। इनमें कबीर और नाथ पंथी कवि प्रमुख हैं। वीरगाथा कालीन आदिकाल को संत कालीन आदिकाल में बदल कर आचार्य द्विवेदी ने जो सबसे महत्वपूर्ण काम किया वह यह है कि हिंदी के जन-चरित्र और आध्यात्मिक फ़कीरी के स्रोत को पहचाना। यह एक तरह से हिन्दी-साहित्य के मूलभूत जन-चरित्र को पहचानने की भूमिका सिद्ध हुई। इस काम को आगे बढ़ाया आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, आचार्य विनयमोहन शर्मा जैसे विद्वानों ने। विनयमोहन शर्मा ने एक तरह से द्विभाषिक संत साहित्य की तुलना का भी प्रारम्भ किया जिससे भारत की सांस्कृतिक एकता और समान समकालीन सोच की चेतना रेखांकित हुई। महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने सिद्ध साहित्य की अपनी शोधों और विवेचनों से फक्कड़ सन्तों की उस महत्वपूर्ण परम्परा का संधान किया, जिसने हिन्दी के फक्कड़ कवियों का मार्ग प्रशस्त किया था।

डॉ० रामविलास शर्मा साहित्य में जन-चेतना और यथार्थ की अभिव्यक्ति को केन्द्रीय महत्व देते हैं। उन्होंने हिन्दी आलोचना को मार्क्सवादी विचार-धारात्मक आधार दिया और साहित्य तथा भाषा के क्षेत्र में इस सिलसिले में महत्वपूर्ण काम किया। भारतेन्दु युग, द्विवेदी, निराला आदि पर उनके मानक काम हैं। मार्क्सवाद की साहित्यिक और सामाजिक भूमिका पर हिन्दी में जितना गम्भीर और विशद काम डॉ० शर्मा का है उतना शायद किसी और आलोचक का नहीं है। विपुलता और विविधता की दृष्टि से भी शुक्ल जी के बाद सबसे अधिक काम रामविलास जी का ही है। यों शर्मा जी मार्क्सवादी आलोचक के रूप में विख्यात हैं, लेकिन उन्होंने भारतीय साहित्य संस्कृति, इतिहास और भाषा पर इतना व्यापक सोचा और लिखा है कि और वहां उन्हें ऐसे तत्व मिले हैं जिन्हें सिर्फ मार्क्सवादी सोच और शब्दावली में शायद वे बांध नहीं सके— यहां तक कि लोगों ने उनके मार्क्सवाद को खोखला तक कह डाला। पिछले दिनों हंसराज रहबर ने 'रामविलास शर्मा का खोखला मार्क्सवाद' नाम की एक बुकलेट ही प्रकाशित कर दी। इसका उत्तर ठीक ही डॉ० विश्वंभरनाथ उपाध्याय ने दस्तावेज २३-२४ में दिया है। असल में डॉ० शर्मा ने यद्यपि अपना आलोचनात्मक

लेखन मार्क्सवाद की अवधारणाओं की बुनियाद पर किया है, लेकिन अपने इतिहास और साहित्य की समझ से उसके भीतर 'जातीय स्वभाव' और देशी मूल्य भी समाविष्ट हो गए हैं। तुलसी और प्रसाद जैसे कवियों के रचनात्मक संघर्ष के बारे में उन्होंने जो विवेक संगत दृष्टि अपनाई है, यह इसका प्रमाण है। जैसा मैंने अन्यत्र कहा है कि हिन्दी के वामपन्थी आलोचक की यह विवशता रही है कि उसे जो जन-चेता साहित्य और साहित्यकार उपलब्ध हैं उन पर संवेदनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए कई बार वह वाद पर अडिग नहीं रह सकता। इन विभिन्न आलोचकों में शुक्ल जी के प्रतिरोधात्मक स्वर जो उभरे हैं उनसे भी उनके प्रभाव का अनुमान हो सकता है और लगता है कि सभी आचार्य शुक्ल को ही अपना प्रस्थान मानते हैं। क्योंकि शुक्ल जी ने जिस तत्वाभिनिवेशिता, संवेदना और विलक्षण समझदारी से आलोचना-कर्म को दिशा दी उसने सोच की बुनियाद तयार की है और अनेक मामलों में वे प्रामाणिक और प्रभावशाली साबित हुए हैं। बीसवीं शती के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में आचार्य शुक्ल ने समीक्षा की जो भाषा दी वह आज भी बासी नहीं लगती और नवीनतम आलोचक जाने-अजाने उस भाषा का इस्तेमाल करते हुए, उसे आलोचना में इस तरह रखते हैं गोया यह भाषा की सर्जना में उनका अवदान हो। इतने लम्बे समय तक भाषा की ताज़गी बरकरार रहना शुक्ल जी की रचनात्मक जीवट को दिखाता है। आज लोग आलोचना की पठनीयता पर बहस करते हैं, आलोचना की सर्जनात्मकता का झंडा उठाते हैं — उनके पूर्व पुरुष भी आचार्य शुक्ल ही हैं, भले वे इसे मानें या न मानें। क्योंकि शुक्ल जी की व्यवहारिक ही नहीं सैद्धांतिक आलोचना में भी कहीं जटिलता नहीं है और वे पाठक को साथ लेते, मुग्ध करते, समझाते हुए ऐसे चलते हैं जैसे वे उसके हमजोली हों। उनकी शैली इतनी रोचक और पाठनीय है कि वह एक ओर पाठक के सर्जनात्मक सोच का विकास करती है तो दूसरी ओर लेखक के गले उतरती और उसे किसी हद तक प्रेरणा और दिशा देती है।

परवर्ती-लेखक आलोचकों को—चाहे वे गजानन माधव मुक्तिबोध हों या सच्चिदानन्द वात्स्यायन अज्ञेय, शुक्ल जी किसी न किसी हद तक प्रभावित करते हैं। मुक्तिबोध के आलोचनात्मक चिंतन और रुझानों, यहां तक कि भाषा पर भी शुक्ल जी के प्रभावों को स्पष्ट देखा जा सकता है। क्योंकि शुक्ल जी के आधारभूत लोक-संवेदन; भारतीय लोकोन्मुखता से समंजित और संश्लिष्ट हैं और सर्जनात्मक सोच के बुनियादी प्रश्नों पर उन्होंने एक नई समकालीनता पैदा की है — उससे बचना आसान नहीं है, किसी भी संजीदा सर्जक के लिए।

शुक्ल जी पर लोगों ने बहुत से आरोप लगाए हैं, मसलन वे ब्राह्मण वादी हैं, या तुलसी उनके आलोचनात्मक चिंतन पर हावी हैं, वे आदर्शवादी हैं, परंपरावादी हैं आदि आदि। लेकिन शुक्ल जी से बेहतर आज तक जायसी पर किसी ने नहीं लिखा और सूर की मार्मिक व्यंजनाओं पर भी उनके बगैर बात नहीं की जा सकती। रीतिकालीन चमत्कारी कवियों में उन्होंने ब्राह्मण-अब्राह्मण किसी को नहीं बख्शा। पारंपरिक चेतना का जहां सवाल है, वह एक समावेशी आलोचक की अनिवार्यता है, लेकिन इस आधार पर किसी को खास कर शुक्ल जी को परम्परावादी कहने वालों ने शायद परम्परा को चुनौती देने या उसका परिमार्जन करने वाले उनके सिद्धांतों और प्रयोगों को नहीं पढ़ा है। या नज़र अंदाज किया है। तुलसी को उन्होंने बेशक अपनी आलोचना का आधार माना है। इसलिए नहीं कि शुक्ल जी भी राम-भक्त हों, बल्कि इसलिए कि पूरे हिन्दी काव्य में अकेले तुलसी ही इतनी विराटता और सामाजिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक सम्पन्नता के समुद्र हैं जिनमें सब कुछ एक जगह मिलता है, समर्थन और विरोध की दिशाएं उनसे निकलती हैं। अगर किसी कवि को मानक या प्रामाणिक मानकर अपने आलोचना-सिद्धांतों की बुनियाद शुक्ल जी खड़ी करते - यानी 'लक्ष्य' सामने रख कर सिद्धांत और व्यवहार बुनते तो बताइये तुलसी के अलावा कौन कवि हो सकता था ? फिर भी यह कहना गलत है वे उन्हीं तक ठहर गए हैं। उनके विपुल साहित्य को पढ़कर कोई भी समझदार व्यक्ति उन पर एकांतिकता का आरोप नहीं लगा सकता। मेरे कहने का यह मतलब नहीं है कि शुक्ल जी में खामियां नहीं थी, या उनकी आलोचना नहीं की जानी चाहिए। उनके कुछ विचारों और प्रतिपादनों की आलोचना मैंने भी की है। लेकिन उन पर सतही, सपाट, खासकर सरलीकृत आरोप, जो उनकी आलोचना और सोच की व्यापकता पर अप्रमाणिक रूप से लगा दिए जाते हैं, लगाना आसान नहीं हैं और कई बार तो वे अनुत्तरदायित्वपूर्ण भी हैं। अभी तो हमें शुक्ल जी की मेधा और विलक्षण सर्वसमावेशिता वाले, सृजन-दृष्टि से सम्पन्न आलोचक की जाने कब तक प्रतीक्षा करनी होगी ? ●

[८२/१०१, तुलसी नगर, भोपाल-४६२ ००५]

साक्षात्कार

कला की एकाधिक धाराओं की पहचान

□ मृणाल पांडे से महेश दर्पण की बातचीत

मृणाल पांडे हिंदी की उन गिनी-चुनी महिला कथाकारों में से हैं जिन्होंने बहुत कम समय में अपनी एक विशिष्ट पहचान बनायी है। 'एक नीच ट्रेजेडी', 'शब्दवेधी' 'दरम्यान' जैसे कहानी संग्रहों के अतिरिक्त 'विरुद्ध' और 'पटरंगपुर पुराण' जैसे उपन्यासों के साथ-साथ 'जो राम रचि राखा' तथा 'आदमी जो मछुआरा नहीं था' जैसे महत्वपूर्ण नाटकों को लिखने के अलावा महिलाओं की विचारशील पत्रिका 'वामा' के कुशल संपादन के ज़रिये मृणाल जी का व्यक्तित्व सहज आकर्षण का विषय है।

दिल्ली के जीवन और तमाम व्यवहारिक अड़चनों के रहते उनसे लम्बी बातचीत पहली ही मुलाकात में संभव नहीं हुई। आखिरकार फैसला यह हुआ कि कार्यालय में ही समय निकाल कर बातचीत की जाए।

पिछले कुछ समय से कहानी को लेकर वरिष्ठ आलोचकों और कथाकारों द्वारा गम्भीरता से की गई बातचीत के दौरान जो महत्वपूर्ण मुद्दे उभर कर आये थे, हमारी बातचीत उन्हीं मुद्दों से शुरु हुई और मृणाल पांडे का कहानीकार अपनी आलोचनात्मक दृष्टि के साथ खुलकर सामने आया। यह ज़रुरी नहीं कि आप मृणाल जी की स्थापनाओं या मान्यताओं से सहमत ही हों पर इतना अवश्य है कि उनके विचार इस उलझे हुए समय में खुले तौर पर सोचने और समझने की दिशा में प्रेरित तो करते ही हैं।

महेश दर्पण : इधर के युवा रचनाकारों की कहानियों को लेकर प्रायः वरिष्ठ आलोचक यह कहते सुने गये हैं कि स्थिति चित्रण में प्रौढ़ और विश्वसनीय होते हुए भी कलात्मक स्तर पर ये कहानियां प्रभावित नहीं कर पातीं। कहानियों और आलोचकों की टिप्पणी को लेकर एक कथाकार के नाते आपकी प्रतिक्रिया जानना चाहूंगा?

मृणाल पांडे : कुछ अंश तक मैं इस बात से सहमत हूं पर पूरी तरह सहमत नहीं हूं। सहमत मैं इस बात से हूं कि उनमें अभी वह प्रौढ़ता नहीं आई है।

ज़ाहिर है उनकी दौड़ अभी शुरु ही हुई है, अपनी शैली की भी सही पहचान बना पाने में समय तो लगता ही है। अगर हम यह अपेक्षा करें कि युवा रचनाकार, जो अभी लेखन शुरु ही कर रहें है, अपनी पहली ही कहानी से वह स्तर पा लें जो स्तर रेणु की कहानियों का है...... तो ये उनके प्रति एक अन्याय होगा। पर मुझे लगता है कि अपनी तरह से उन्होंने एक कलात्मक दृष्टि ज़रुर विकसित की है ... हो सकता है वह पुरानी कलात्मक दृष्टि से मेल न खाती हो जैसे, आपने पढ़ा होगा, एक युवाकथाकार हैं- शशांक। उनकी कुछ कहानियां हैं... उनमें एक तरह की तरल काव्य दृष्टि है। उसमें जो निम्न मध्यवर्गीय शहरी जीवन है, उसमें पारिवारिक तनाव और बाहरी अंतर्द्वंद्वों का तालमेल, वह बहुत सटीक तरह से उभरकर आया है इसी तरह से राजेश जोशी की कहानियां हैं जिनमें यह गुण देखने को मिलता है। इसके अलावा ज्योत्स्ना मिलन की कहानियां हैं, चित्रा मुद्गल की कहानियां हैं। मुझे लगता है कि जहां तक कला, शिल्प या शैली का सवाल है, हर कथाकार अपना एक खास तरह का शिल्प विकसित करता है। हम ये नहीं मान सकते हैं कि विकसित शिल्प की जो व्याख्या है वह हर कलाकार के संदर्भ में एक ही हो...तो (उसमें यह है कि) अगर किसी कलाकार की कहानी अपने दबावों को, अपनी ज़रुरतों को, अपनी शर्तों को, अपनी विकास की रेखाओं को देखते हुए अपने शिल्प के तईं संपूर्ण अर्थ रखती है तो मुझे लगता है कि हमें उस शिल्प को संपूर्ण स्वीकार कर लेना चाहिए। चाहे वैसा शिल्प हमारे देखने में पहले न आया हो।

महेश दर्पण : मैं दरअसल यह सवाल इसलिए कर रहा था कि हिंदी की एक वरिष्ठ कथा-लेखिका (मन्नू भंडारी) युवा रचनाकारों पर टिप्पणी करते हुए जब यह कहती हैं ... 'लगता है जैसे अपने आसपास के परिवेश को पत्रकारिता के स्तर पर ग्रहण और अभिव्यक्त किया गया है। प्रायः कहानियों में वर्णित स्थितियां अनुभूत यथार्थ कम और देखा-सुना-पढ़ा यथार्थ अधिक लगती हैं।' तो कहानियों में कलात्मक गहराई का न आ पाना ही अनुभव को संवेदना के स्तर तक न पहुंचने देने का कारण हो सकता है या आज के जीवन पर पड़ रहे अधिकाधिक बाहरी दबाव भी ?

मृणाल पांडे : हर विकसित होती हुई कला-चेतना की अपनी कलात्मक समझ और अपनी पकड़ होती है। मान लीजिए कोई कहानी का तत्व जरनलिस्टिक परिप्रेक्ष्य से उठाता है और उसमें अपना अनुभूत यथार्थ भी शामिल करके उसे एक अच्छी कहानी बना देता है, तो मुझे लगता है कि, यह अपने आप में एक बड़ी अच्छी उपलब्धि है। आज तो हालत यह है कि पत्रकारिता की दुनिया और कहानी की दुनिया की सीमा रेखा बहुत धुंधली हो चुकी है। ये ज़रुर है कि रचनात्मकता की जो ताकत है वह खालिस पत्रकारिता में कभी नहीं आ सकती, क्योंकि रचनाकार के पास एक कालातीत दृष्टि होती है। जो किसी थीम को उठाकर इस तरह उसे प्रस्तुत करती है, इस तरह से उसका संयोजन करती है कि वह हमारे समय का तात्कालिक थीम

यह कलंक न लगे कि हिन्दी में अच्छी पत्रिका नहीं निकल सकती

होते हुए भी एक सार्वकालिक थीम हो जाता है; जैसे अभी श्रीलाल शुक्ल की एक बहुत अच्छी कहानी 'सारिका' में आई थी 'गिरफ्तारी'। अगर इस कहानी के बुनियादी विचार को देखा जाए तो वह मात्र एक जरनलिस्टिक स्कूप के स्तर का है पर उसमें खासियत यह है कि जिस तरह से वह ऊपर उठकर आता है, और एक प्रकार की फंतासी अपने आपमें बुनता है, तो यह है कि एक तैराक 'डाईविंग वोट' का सहारा जरूर लेता है ... पहली उछाल के लिए, पर वह उसकी कुल तैराकी नहीं है। सिर्फ उसकी शुरुआत का बिंदु है। उसके बाद फिर वह जो दूरी तय करता है वह उसकी अपनी ऊर्जा से निकलती है। यही बात मुझे लगता है कि पत्रकारिता और उससे जुड़े रचनात्मक लेखन के साथ भी है। इतना मानना पड़ेगा कि आज, जो हमारे देश में हमारे चारों तरफ घट रहा है उसको समाज का अगर कोई वर्ग ईमानदारी से देख रहा है, टटोल रहा है तो वह पत्रकारों का वर्ग है। ये जरूर है कि इसमें भी ७० प्रतिशत लोग उसे अपनी तरह से मोड़-तोड़ रहे हैं, पर तब भी जो व्यवहारिक और प्रामाणिक किस्म की सूचना है, वह हमको पत्रकारिता के ही माध्यम से मिल रही है। तो अगर हम यह कहें कि जो हमने गोताखोरी की है, जो हमने दिया है ... बस उसी के बारे में लिखेंगे तो हम एक तरह से अपने आपको बहुत आत्मकेंद्रित बना लेंगे। एक जमाना था जैसे मन्नू जी (भंडारी) और राजेन्द्र जी (यादव) ने अपनी जो बेहतरीन कहानियां लिखी हैं वे बहुत आत्मकेंद्रित और एक व्यक्ति के अन्दरूनी संसार को टटोलने वाली मालूम पड़ती हैं। एक तरह से व्यक्ति के मानसिक जगत् की खोज करने वाली कहानियां हैं। मोहन राकेश, कमलेश्वर ... या उनकी पीढ़ी के जो दूसरे लेखक थे उनकी कुछ बहुत अच्छी कहानियां हैं पर अब जो पीढ़ी (लेखकों की) है ...वह मनोवैज्ञानिक संसार

की उस खोज-बीन को उतना ज्यादा फिर से दोहराने की बजाए, हो सकता है कि उससे अलग तरह की रचनाशीलता ढूंढ रही हो। कम से कम मुझे ये लगता है कि एक मनोवैज्ञानिक संसार की जो खोज थी, उपज थी ...आज के रचनाकार के लिए वह इतनी ज़रूरी नहीं रही है, क्योंकि यह तथ्य हमारी पीढ़ी के सामने उभर कर आया है कि मनोवैज्ञानिक जगत् भी बहुत बड़े अर्थों में बाहरी जगत् से नियमित होता है। और बहुत बड़े अर्थों में उसमें जो परिवर्तन आते हैं वह बाहरी जगत् के परिवर्तनों से ही ...तो हम कैसे बिना बाहरी जगत् की अनुगूंजों के सुने हुए सिर्फ अपने ही में डूबकर रचना कर सकते हैं!

महेश दर्पण : ये तो आप बिल्कुल ठीक कह रही हैं...लेकिन बदलाव की गति में इधर काफी तेजी आई है। समय के साथ-साथ जिस तरह जीवन संदर्भ बदलते रहते हैं, उसी तरह जीवन-संदर्भों के साथ साहित्य का स्वरूप भी बदलता है। जाहिर है आज से २०-२५ साल पहले कथा-साहित्य की जो स्थिति थी वह आज नहीं है। बल्कि लगता यूं है कि पहले बदलाव के संदर्भ में एक दशक की बात होती थी और आज इससे भी कम समय में बदलाव रेखांकित किया जा सकता है...

मृणाल पांडे : क्या हमारी आपकी जिंदगी में इतनी तेजी से बदलाव नहीं आ रहे हैं? मुझे लगता है कि जितनी तेजी से मनुष्य का दिमाग परिवर्तन में चक्कर घिन्नी खाता है.. उतनी ही तेजी से उसके सोचने का तरीका और उसकी रफ्तार भी बदलती है। हमारे हिन्दुस्तान के बैलगाड़ी वाले जीवन में भी एक तेजी आई है, जो कि पहले नहीं थी। सदियों से हम लोग एक तरह के जीवन के आदि थे। सबसे पहले संयुक्त परिवार टूटा। छोटे-छोटे परिवार बने। छोटी ईकाई नेचुरली ज्यादा तेजी से घूमेगी। बड़े परिवार में परिवर्तन बहुत धीरे आते थे। आते भी थे तो परिवार का प्रेममय गद्दा इतना लम्बा-चौड़ा था कि सब किस्म के धक्के उसमें समा जाते थे। पर अब यह है कि छोटे परिवार में बाहरी जीवन और अंदरूनी जीवन के बीच की दिवार बहुत पतली हो चुकी है। बाहर के जो परिवर्तन हैं उनकी अनुगूंज बहुत ज़ोरों से हमारे भीतर झनझनाती है। आज परिवर्तन हमारे निजी दरवाज़े पर दस्तक दे रहा है। दो ही हमारे पास सूरतें रह जाती हैं, कि या तो हम दरवाजा खोल दें या बिल्कुल बन्द कर दें।

महेश दर्पण : यहीं मेरा सवाल फिर उठ खड़ा होता है कि नयी सेंसिबिलिटी के रचनाकारों पर पुरानी सेंसिबिलिटी के आलोचकों की टिप्पणियां कितनी सही उतरती हैं और नई सेंसिबिलिटी का जो रचनाकार है वह उस आलोचना को कितना स्वीकार कर पाता है?

मृणाल पांडे : देखिए, यहां पर दूसरी चीज एक यह भी स्पष्ट करना जरूरी है कि नई 'सेंसिबिलिटी' या मानसिकता नाम की कोई इकाई नहीं है। नई पीढ़ी के

भी नौ रचनाकारों में नौ तरह की मानसिकता दिखाई पड़ती है। इसमें सामान्यी-करण का खतरा हमेशा मौजूद रहता है। इसका सामान्यीकरण कतई नहीं होना चाहिए। क्योंकि उसमें फिर आप सभी को ढ़ाई पंसेरी के धान की तरह तोलने लगेंगे। परिवर्तन की रफ्तार जितनी बड़ी तेजी से बढ़ी उसी तेजी से बड़े परिवार की सुरक्षा या ओट भी हिंदुस्तानी आदमी के पास से चली गई, खास तौर से स्त्री से। उसकी वजह से सुखद और दुखद दोनों तरह के जो अनुभव हैं ... वह बहुत तेजी से और बहुत निकटता से रचनाकार अनुभव करता है। वैसे ही रचनाकार बहुत अतिरिक्त संवेदनशील होता है। औसत व्यक्ति को जो अनुभव उतने जोर से नहीं झकझोरेगा, उससे चौगुने जोर से वह एक रचनाकार को झकझोरेगा। तो ज़ाहिर है कि उसकी रचना में भी एक प्रकार का पैनापन, एक प्रकार की आक्रामकता, एक प्रकार की चंचलता आयेगी और इसे मैं अस्थिरता नहीं कहूंगी। मुझे लगता है कि यह एक प्रकार का स्वीकार ही है कि हां, चीजें बदल रही हैं। अब तक तो हम यह मान कर चलते रहे कि जो कुछ बदल रहा है, वह बाहर बदल रहा है हमारे यहां सब कुछ एकदम अखंड है ... अक्षुण्ण है। और जो खराब हो रहा है, वह इसलिए कि हम उस अखंड से विछुड़ रहे हैं। तो अब यह स्वीकार आ गया है कि जो आज मध्यपूर्व में घट रहा है, दक्षिण एशिया में घट रहा है या यूरोप में घट रहा है, वह किसी अलग अंतरिक्ष में नहीं घट रहा है। वह हमारी खाल के बहुत आस-पास घट रहा है। और बहुत जल्दी ही इसका प्रभाव हमारे भीतर भी आयेगा। अगर लेखक के बहुत अधिक संवेदन शील होने के कारण मशीन की तरह उसकी अंदरूनी मशीन टिकटिकाने लगती है, तो मैं यह समझती हूं कि यह तो एक स्वाभाविक-सा सिलसिला है।

महेश दर्पण : वरिष्ठ कथाकारों द्वारा जब यह कहा जाने लगे कि कथा-पत्रिकाओं ने अपना दृष्टिकोण ही बदल दिया है -- इससे कथाकार उदास हो गया है। क्या प्रकाशन के अवसर, सचमुच कथाकार की उदासी की वजह हो सकते हैं ?

मृणाल पांडे : हर आदमी जब ढलने लगता है तब उसे फिर युवा लोग ढले हुए, चुके हुए और हताश दिखाई देते हैं। सावन के अंधे को हरा ही हरा दिखता है। तो यह मैं नहीं कहूंगी कि वे बिल्कुल ही गलत हैं पर काफी बड़े अंशों में यह भी है कि हर पीढ़ी यह कहती है कि हमारे जमाने में तो बहुत अच्छा था और अब समय खराब हो गया है। संक्रमण का काल है ... हर काल संक्रमण का काल होता है। स्थिरता एक सापेक्ष चीज है। बस जीवन में भी, काल में भी।

महेश दर्पण : आज अनायास क़थालोचना को लेकर रचनाकारों द्वारा निहायत अगंभीर किस्म की टिप्पणियां की जाने लगी हैं ... यहां तक कि उसकी महत्ता पर भी प्रश्नचिह्न खड़े किये जा रहे हैं ... जबकि उधर आलोचकों का कहना यह

है कि रचनाएं कोई ऐसा चैलेंज सामने नहीं रख पा रही हैं कि आलोचक लिखने की जरूरत महसूस करें। इस स्थिति पर आप क्या सोचती हैं ?

मृणाल पांडे : स्थिति तो घालमेल की ही कहलायेगी क्योंकि एक तरफ तो आलोचक कह रहे हैं कि रचनाएं अच्छी नहीं आ रही हैं, दूसरी तरफ मेरा जो निजी अनुभव है, उससे लगता है कि हमारा औसत आलोचक कथा-साहित्य बहुत कम पढ़ता है। अगर आप उनमें से (आलोचकों) वरिष्ठतम लोगों से भी पूछें कि आप पांच युवा-रचनाकारों के नाम बताइये कि जिनकी आपने रचनाएं पढ़ी हैं, तो अधिकांश लोग अटक जायेगें। तो मुझे लगता है कि जल्दबाजी में दिया गया वक्तव्य है, जो उनके व्यक्तित्व से मेल नहीं खाता है। पहले उन्हें खुद 'होमवर्क' करना चाहिए। मैं पूरी ईमानदारी से यह बात कहती हूं कि मुझे हमेशा यह लगता है कि हमारे यहां आलोचक लोग पूरी चीज को पढ़े बिना या एक पूरे काल-खंड के रचनाक्रम को पढ़े बिना, थोड़ी जल्दबाजी में, थोड़े निजी पूर्वग्रहों के बतौर ...थोड़ा हो सकता है कि अपने 'नेचुरल इंस्टिक्ट, के वशीभूत होकर ऐसी बातें कह देते हैं ... क्योंकि वे लोग इतने वरिष्ठ हैं इसलिए बाद में ये बातें गुरु-वाक्य मान ली जाती हैं। मुझे लगता है कि नई रचनाओं में चैलेंज न होने की बात, यह बहुत सही नहीं हैं, क्योंकि अब बहुत ज्यादा मात्रा में लिखा जा रहा है। अगर आप उसका पचास प्रतिशत भी पढ़ लें, तो मेरे ख्याल में एक स्पाट साधारणीकरण असंभव लगने लगेगा। अब हमारे यहां हिंदुस्तान में हम लोगों के साथ ये बड़ी दिक्कत है कि हम हर चीज के अंत में एक सूक्ति-वाक्य जड़ना चाहते हैं, जिसमें सारी की सारी चीज का निचोड़ हो। कला ऐसी चीज है जिसमें हर आदमी अपनी तरह से 'रच' रहा है...। उसमें हर आदमी को आप एक ही लाठी से हांकें या एक लाठी हांकने का मोह करें...तो ये तो अपने आप में गलत बात है। तो जहां, यह बात है कि अच्छी रचनाएं नहीं लिखी जा रहीं, मैं इससे डिफर करती हूं। ये ज़रुर है कि अच्छी रचनाओं का कुल प्रतिशत अगर बढ़ा नहीं है, तो गिरा भी नहीं है।

महेश दर्पण : देखिए नये आलोचकों का भी हिंदी में एक खासा दौर रहा है। हर आंदोलन के साथ कुकुरमुत्ते की तरह आलोचक हुए हैं ... उनकी आलोचना रिसीव क्यों नहीं की गई ... क्या पेशेवर आलोचना के प्रति अनिच्छा का भाव ही इसके मूल में रहा ?

मृणाल पांडे : दो चीज़ें हैं— एक तो यह कि जैसा मैंने कहा कि आलोचक गण, पहले आप खुद होम-वर्क कीजिए। इसके लिए बहुत धैर्य की, मौडेस्टी की, विनयशीलता की ज़रुरत है, जो औसत भारतीय के मन में, खासकर पुरुष के मन में (यहां मैं बगैर किसी पूर्वग्रह के कह सकती हूं कि हमारे यहां ज्यादातर पुरुष लेखकों और आलोचकों में) 'मैचो' (Macho) यानि मर्दानगी की हेकड़ी बहुत है। उसके अंतर्गत ये होता है कि आज कुछ खास पूर्वग्रहों से ही स्त्रियों द्वारा की गई रचना

को देखते हैं। रचनाकारों में भी यह है और आलोचकों में भी। इसके तहत यह होता है कि उनमें एक ऐसा बोध रहता है कि जो हम कह रहे हैं वह अंतिम वाक्य है, सार्वकालिक है, क्योंकि हम, हम हैं। इससे मुझे सख्त परहेज है। मैं नहीं सोचती हूं कि कोई भी आलोचक इतनी दंभपूर्ण व्याख्या करने का अधिकारी है कि वही इस रचना का अंतिम निर्णय दे रहा है। आप देखेंगे कि दुनिया की स्वस्थतम आलोचना वह है जो हाशिए पर जगह रखती है, और पूरी विनयशीलता के साथ कहती है कि यह जो मैं कह रहा हूं यह मेरा निजी विचार है, हो सकता है कि इसमें बहस की गुंजाइश हो। आप टी० एस० इलियट से लेकर चलिए — इलियट तो पश्चिमी दुनिया के थे आप — लूकाच को भी ले लीजिए...यहां तक कि यूरोप के मार्क्सवादी आलोचकों के आपसी पत्र व्यवहार को ले लीजिए। शायद मिन्नाक्राटस्की को लेनिन ने एक पत्र लिखते हुए कहा था कि अच्छी कला की अपनी शर्तें होती हैं... और जरूरी नहीं है कि राजनीतिक वादों की तमाम शर्तों पर हर बार अच्छी कला पूरी की पूरी खरी उतरे ही। मुझे लगता है कि इस 'मैचो' के तहत कहीं वे कला से जबरन कुछ गलत अपेक्षाएं करते हैं, जबकि आलोचक का काम यह होना चाहिए कि एक अच्छी कला के आगे पूरी विनयशीलता से अपने आपको समर्पित कर दे। उस दौरान उसे जो अनुभव हो रहे हों, उन्हें ईमानदारी से मापे। अगर अनुभव न हो रहे हों, तो कहे कि ये रचना मुझे हिला नहीं रही है। पर हमारे यहां होता यह है कि पहले हम टोपी छांट लेते हैं फिर सिर ढूंढते हैं कि इसे किस पर फिट करें।

महेश दर्पण : 'मैचो' के तहत कला से जिस तरह की जबरन अपेक्षाओं की बात आप पुरुष-आलोचकों पर आरोप लगाते हुए कर रही हैं...उससे लगता यह है कि आलोचना के क्षेत्र में समूचा दायित्व पुरुषों के ही नाम तो नहीं लिखा...

मृणाल पांडे : इस दिशा में मैं समझती हूं कि औरतों ने बहुत बड़ी गलती की कि उन्होंने आलोचना की तरफ बिल्कुल कदम नहीं उठाया। मुझे लगता है कि औरतों में पर-दोष देख और बखान पाने की जो एक महीन प्रवृत्ति होती है, उसके कारण अगर महिला आलोचक ईमानदारी से सामने आती तो बहुत उम्दा आलोचना कर सकती थी। शायद उन्होंने भी ज्यादा होमवर्क नहीं किया था और चूंकि वे ज्यादा ईमानदार होती हैं इसलिए उन्होंने आलोचना नहीं की। जैसे मैंने राजी सेठ के कुछ आलोचनात्मक लेख पढ़े ... मृदुला गर्ग के कुछ लेख पढ़े...तो मुझे लगा कि बड़े सार्थक तरीके से ये लोग आलोचना की दिशा में भी काम कर सकती हैं। दूसरी चीज यह जरूरी है, कि इसके लिए आपको कला की एकाधिक शाखाओं का ज्ञान हो। खास तौर पर आज बहुत जरूरी है ...वरना आप ये करते हैं कि कला को बहुत एकांगी और स्थूल शब्दों से जांचते हैं। दुनिया के जितने भी अच्छे आलोचक रहे हैं वे न केवल कला की एकाधिक शाखाओं से परिचित थे, बल्कि उतनी ही सूक्ष्मता से वे कलाओं का अध्ययन भी करते थे। हमारे यहां का हाल है कि अगर कोई कहानी का आलोचक

है तो वह कविता से बिल्कुल संपर्क नहीं रखेगा। कविता का आलोचक है तो वह कहानी से संपर्क नहीं रखेगा। अगर वह नाटक का आलोचक है तो कविता-कहानी से कोई संपर्क नहीं रखेगा। आप बताइए कि जितनी कला-प्रदर्शनियां होती हैं, शास्त्रीय संगीत और नृत्य के आयोजन होते हैं · वहां कितने समीक्षक पहुंचते हैं? जबकि मुझे लगता है कि उनका सारा कच्चा माल (रॉ मेटिरियल) उनके सारे हथियार, उनके सारे औजार वहीं मौजूदद हैं। हालांकि हमारे काफी मतभेद हैं···लेकिन इस मामले में मैं नामवर जी का आदर करती हूं, कि वे कोशिश हमेशा यह करते हैं कि कला की एकाधिक धाराओं से अपने को परिचित रखें, यही चीज निर्मल वर्मा की भी है, हालांकि उन्होंने आलोचना बहुत ही कम लिखी है ··· पर जितनी भी लिखी है गहराई और प्रामाणिकता से। उसका मूल कारण यही है कि उन्होंने अपने आप को कला की एकाधिक धाराओं से जोड़े रखा है। यहां मैं सोचती हूं कि जो लेखिकाएं हैं तो उनमें से ज्यादातर लेखिका बने रहने को ही इतना भारी और सर्वकालिक बोझ समझती हैं कि फिर उन्हें कुछ और करने का समय ही नहीं मिल पाता। या लगता है कि इससे आगे कुछ कर पाने की उनमें ऊर्जा ही नहीं रही। लेकिन मैं समझती हूं कि बहुत स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिए कि आप कला की एक शाखा में काम कर रहें हैं तो आप यह सोचें कि और लोग क्या कर रहे हैं?

महेश दर्पण : कुछ आलोचक ऐसे भी हुए हैं हमारे यहां, जो कहानीकार भी रहे हैं। एक रचनाकार जब आलोचना करता है तो ऐसा क्यों लगता है कि 'वियार' के धरातल पर, 'थाट' के धरातल पर, वह जितना साफ है, उतना खरा वह रचना के स्तर पर नहीं उतर पाया। इस संदर्भ में मैं निर्मल वर्मा का नाम लेना चाहूंगा!

मृणाल पांडे : इसका मूल कारण तो यह हो सकता है कि उनकी जो ऊर्जा है या जो रचना धर्मिता है वह आलोचकीय धरातल पर ज्यादा मेल खाती है। संवेदना के धरातल की अपेक्षा वह विश्लेषण के धरातल पर ज्यादा मजबूत हैं। जितनी भी अच्छी आलोचना लिखी गई है। वही ९० प्रतिशत ज्यादातर लोग हैं जो या तो कहानीकार हैं या कवि जैसे राजेन्द्र यादव हैं, मलयज, मुक्तिबोध हैं। इन लोगों ने जो आलोचनात्मक लेख लिखे हैं उनमें उस दुनिया की अंदरूनी समझ है और रचनाप्रक्रिया के बारे में पर्याप्त संवेदनशीलता है।

महेश दर्पण : निर्मल वर्मा का, क्योंकि संदर्भ आपने दिया था ··· इसलिए मैं पूछना चाहूंगा कि उनके कहानी जगत् में और आलोचना जगत् में हमें बहुत बड़ा फर्क नजर आता है। आप निर्मल जी के इन दो अलग-अलग रूपों के बारे में क्या कहेंगी?

मृणाल पांडे : मैं समझती हूं कि वे हमारे समाज में बहुत कम ईमानदारी और मेहनत से लिखने वाले लेखकों में से हैं चाहे वे कहानी लिख रहे हों चाहे

आलोचना, इतना जरुर है कि निर्मल के आलोचक ने आलोचना के लिए जो फलक संसार समोया है वह बहुत लम्बा-चौड़ा संसार है उनकी उसकी परख भी बहुत गहरी और संवेदनशील है। और जैसा आप कह रहे हैं, मुझे भी निर्मल जी से यह शिकायत है कि इतने बड़े संसार की इतनी संवेदनशील परख उनमें है तो कहानी के धरातल पर उन्होंने अपेक्षाकृत छोटे केनवस को ही क्यों लिया है ? पर यह एक ऐसी शिकायत है जिसका कोई जायज उत्तर नहीं हो सकता है। लेखक से यह अपेक्षा करना कि जो आप चाहते हैं, वही वह लिखे, यह एक बड़ी स्वार्थभरी और तर्क विमुख अपेक्षा होती है, पर उन्होंने जितना भी लिखा है उनमें उनकी ईमानदारी स्पष्ट रूप से दिखती है। उनकी कथा रचनाओं और आलोचना में मानवता के धरातल पर कोई बुनियादी फर्क या फांक भी मुझे नहीं नजर आती। मुझे लगता है कि उन्होंने अपने अनुभवों का बहुत छोटा हिस्सा अपनी रचनाओं के लिए या अपने कहानी-उपन्यासों के लिए इस्तेमाल किया है। बहुत कम पात्रों को, बहुत कम चीजों को रचना करने के लिए लिया है। हो सकता है, वे अब कभी कोई रचना दें जिसमें उन्होंने बहुत बड़े फलक का इस्तेमाल किया हो।

महेश दर्पण : 'महिला-लेखन' को लेकर जब कोई वरिष्ठ महिला कथाकार (उषा प्रियंवदा) ही यह कहे कि 'स्त्री होने का बोध ही उसका सेंट्रल प्वाइंट है' तब आप अपने आप को इससे कितना सहमत पाती हैं ?

मृणाल पांडे : मैं इस रूप में सहमत हूं देखिए, यह सही है कि अच्छी रचना का कोई लिंग नहीं होता। मतलब वह अच्छी रचना होती है। पुरुष या स्त्री ने लिखी है, इसलिए अच्छी नहीं होगी पर अगर आप एक महिला रचनाकार की अच्छी रचना और एक पुरुष रचनाकार की अच्छी रचना पढ़कर देखेंगे तो आप यह पायेंगे कि विकास की धारा है, वह फर्क गति से चलती है। बहुत संभव है कि उनकी शुरुआत और निष्कर्ष का गुण एक हो सकता है पर कहानी का चलन फर्क होगा। मैं नहीं जानती यहां संगीत की उपमा देना सही होगा कि नहीं। संगीत में यह है कि कुल जमा वही सात स्वर हैं जो घुमा फिराकर सब लोग गाते हैं। और हर राग का एक कलासिकीय ढांचा हैं जिसके अंतर्गत वह गाया जाता है। पर पुरुष गायक जब गाता है तो उसकी आवाज का एक पिच होता है, एक दबाव होता है, उस वक्त जो सर्जना होती है उसमें पुरुष की आवाज का लक्षित होना एक स्पष्ट चीज है। इसी तरह से जब एक स्त्री गा रही होती है... वह भी राग का वही ढांचा है ... उसका प्रारभ और अंत उसी तरह से होगा, पर उसका जो प्रभाव हम पर पड़ेगा उसमें कहीं यह बात भी शामिल होगी ... औरत की आवाज हैं। इसी तरह कहानी में भी स्त्री का मूल स्वर तो रहेगा ही ... स्त्री के अनुभव एक पुरुष को नहीं हो सकते। मातृत्व या तमाम दूसरी स्थितियां हैं जिनसे स्त्री गुजरती है, पुरुष नहीं, और बहुत-सी स्थितियों से पुरुष गुजरता है, स्त्री नहीं। सिर्फ प्रेम ऐसी स्थिति है जिसमें व्यक्तिक अकेलापन

और वैयक्तिक आकर्षण दोनों के बीच एक तनाव रहता है। आपको यह भी महसास है कि आप अपनी अस्मिता खो रहे हैं। दूसरी तरफ यह भी एक महसास है कि उसे खोये बगैर आप उसे पा नहीं सकेंगे। तो ये जो ऊहापोह की स्थिति है, यह स्त्री और पुरुष दोनों अपने-अपने स्तर पर अनुभव करते हैं। मुझे लगता है कि स्त्रियों-पुरुषों, दोनों की ही अच्छी रचनाएं वे हैं जहां उन्होंने अपने मूल द्वैत को स्वीकार करते हुए रचना की है। तो एक तरह से दोनों की रचनाएं, एक-दूसरे की पूरक हैं। जैसे मैं कहूं कि 'रसप्रिया' फणीश्वरनाथ रेणु की बहुत सुन्दर प्रेम कहानी है, तो इसमें प्रेम का एक पहलू है। उषा प्रियंवदा की, एक हाल ही में 'सारिका' में छपी कहानी है-'आधा शहर' वह प्रेम का, एक स्त्री का अनुभव है। परिवेश और पात्र बिल्कुल फर्क हैं ••• संवेदना के धरातल पर दोनों ने गहराई से जो भी अभिव्यक्त किया है उसे महसूस भी किया है। दोनों का प्रारम्भ और अंत प्रेम है। दोनों में वियोगांत है, पर उसका चलन देखकर आप यह आंख बंद करके कह सकते हैं कि यह स्त्री ने 'रिकार्ड' किया है और यह पुरुष ने। मैं समझती हूं कि उसका मजा और साहित्य की समृद्धि भी इसी में है। स्त्रियों की ओर से यह अभी बहुत कम हुआ है। ज्यादातर जो लेखक और लेखिकाओं द्वारा तथाकथित 'बोल्ड' किस्म का लेखन हो रहा है वह वैसा ही हास्यास्पद है कि बच्चा मूछें लगा ले या पिता के जूते पहनकर वह कहे कि 'मैं पिता बन गया हूं'। कोई पुरुष स्त्री बनने का नाट्य करे या कोई स्त्री पुरुष बनने का, तो ये दोनों ही अस्वाभाविक स्थितियां हैं। मुझे लगता है कि स्वाभाविक स्वीकार और सहजता के साथ स्त्री होने या पुरुष होने की जो कहानियां हैं वो ज्यादा सुघड़ भी हैं और ज्यादा ईमानदार भी हैं, उनमें ज्यादा समझ और पैनापन भी है।

महेश दर्पण : पिछले दिनों एक परिसंवाद में आपने कहा कि सामान्य रूप से जो भी भाषा हमें मिली है, अकादमिक तौर से वह भाषा पुरुष ने ही बनाई हुई है, एक तरह से कहा जाए कि हिंदी की अकादमिकता पुरुषों की है, तो दरअसल, आप सिद्ध क्या करना चाहती हैं ?

मृणाल पांडे : मैं यह कहना चाहती हूं कि अगर रचनाकारों की आवाज़ की सही पहचान कहानी के क्षेत्र में बनानी है तो उन्हें भाषा के स्तर पर नये प्रयोग करने का जोखिम उठाना ही होगा। मेरा यह कहना है कि कहानी लेखिकाएं जो भाषा इस्तेमाल कर रही हैं अपनी कहानी के लिए, वह सिर्फ औजार ही नहीं है बल्कि उनकी पूरी रचना का मूल शरीर और उसका मूल स्वर भी है, इसलिए जितनी सजगता एक कवि की भाषा में मिलती है, उतनी ही सजगता का आभास हमें एक कहानी लेखिका की कहानी भाषा में भी मिलना चाहिए। वैसे भी अगर आपका कथ्य दूसरी तरह का है, और भाषा आप वही पुराने ढर्रे की इस्तेमाल कर रही हैं, तो आपका कथ्य कैसे अभिव्यक्त हो पायेगा ? अवध में, नवाबों के काल के अंतिम चरण में स्त्रियों

की एक नई भाषा, उर्दू की एक विद्या विकसित हुई जिसे 'रेख़्ती' कहा जाता था। यह एक ऐसी भाषा थी जो जनाना भाषा मानी जाती थी। इसमें भी एक खास तरह की छंदात्मकता और अभिव्यक्ति क्षमता थी, खास तरह के कटाव थे...तो ये इस बात का स्वीकार था कि स्त्रियां अपनी बात अपनी तरह से कहती हैं। सामान्य रूप में भी देख लीजिए कि घर पर जिस तरह की बोलचाल की भाषा स्त्रियां प्रायः इस्तेमाल करती हैं ... वह उनकी स्थिति, उनकी सहज मानसिकता के बहुत निकट पड़ती है। हमारे यहां अभी भी स्थिति ऐसी है कि स्त्री स्त्रियों के बीच में ही पलती है, बड़ी होती है ... मरती है। अगर थोड़ी देर के लिए उसमें से निकलती भी हैं तो उसके पीछे स्त्री होने के पीढ़ियों से चले आते संस्कार तो मौजूद रहते हैं। अगर आप उन संस्कारों को इस कारण जबरन रोक रही हैं कि रचनाधर्मिता में आपको अपनी सहज भाषा के बजाय अकादमिक भाषा का ही प्रयोग करना है तो आप एक बहुत ठस्स ... निष्प्राण किस्म की रचना करेंगी, जबकि अगर आप इस बन्धन को तोड़ दें... कि अकादमिकता से हमें क्या लेना-देना है...हम सही रूप में वही रचेंगी जो हमने अनुभव किया है...वह भाषा जो बचपन से हमारे कान में पड़ी है ...अचानक हमें लगता है कि एक बहुत बड़ा संसार हमारे सामने खुल जाता है। यह जरुर है कि नई ज़मीन पर ही, ज़मीन तोड़ने का एक अपना जोखिम होता है ---पर एक अपनी ख़ुशी भी होती है।

महेश दर्पण : हालांकि आपने तो यह अपने लेखन में ही सिद्ध किया है, ख़ास कर 'पटरंगपुर पुराण' में पर मैं...यह कह रहा हूं कि भाषा पर जब जरुरत से ज्यादा गौर किया जाएगा तो कहीं ऐसा तो नहीं हो जाएगा कि हमारा जो कथ्य है वही भाषा के छद्म में दब-ढंक जाए ?

मृणाल पांडे : इसके लिए बहुत मेहनत की जरुरत है। दो तरह की मेहनत... एक तो ये कि आप भाषा का बहुत सजगता, बहुत ध्यान और ईमानदारी से इस्तेमाल करें, दूसरा यह कि यह भी लगातार देखते चलें कि भाषा रचना पर हावी न हो जाए। मेरी जो लचर कहानियां हैं, उनके साथ यही हुआ है कि उन पर भाषा हावी हो गई है। यह मैं बिना किसी उहापोह के कह सकती हूं। वह जोखिम तो रहेगा ही। पर जोखिम के भय से आप भाषा को छुएं ही नहीं या पकी-पकाई भाषा में ही अपने सारे अद्भुत अनुभवों को पिरोना चाहें तो वह होगा ही नहीं। आप एक चौकोर खूंटे को एक गोल गड्ढे में नहीं डाल सकते, आपको उसे तराशकर गोल आकार देना होगा ही। कोशिश तो आपको करनी होगी ही, अगर आप सचमुच अपने को अभिव्यक्त करना चाहते हैं। नहीं तो दर्जनों मीडियॉकर लोग हैं, जाइए उनकी भीड़ में बिला जाइए।

महेश दर्पण : हिंदी कहानी पर लम्बे समय से काम हो रहा है। बावजूद इसके 'हिंदी कहानी' जैसी कोई चीज अभी विश्व साहित्य में स्थान नहीं बना सकी है। यह कुछ लोगों का मानना है ... आपने कभी इस स्थिति पर गौर किया है ?

मृणाल पांडे : इस वक्त विश्व-साहित्य में 'हिंदी कहानी' की कोई स्थिति इसलिए भी नहीं है कि न तो सही अनुवाद ही हुए हैं — मुझे लगता है पिछले पचास सालों में हमारे जो अच्छे कहानीकार आये हैं वे दुनिया के किसी भी साहित्य से अपनी शर्तों पर टक्कर ले सकते हैं। हमारे यहां अनुवाद और अच्छी रचनाओं का चयन सही नहीं हुआ है। बहुत करके विकासशील देशों की कहानियां करके ही उन्हें प्रचारित किया गया है। मुझे लगता है कि हमारी कहानियों को सही तरह से समझने वाला एक बहुत बड़ा पाठक वर्ग विकासशील और दबे हुए देशों में है जबकि हम लोग कहीं अवचेतन में चाहते यह हैं कि हमें मान्यता पश्चिमी देशों की मिले। तो हम अनुवाद करते वक्त बार-बार उन्हीं की ओर ताकते चलते हैं ?

महेश दर्पण : अगर पत्रिकाओं और अखबारों को एक बारगी छोड़ दिया जाए तो 'जन' को प्रभावित करने वाली दो चीजें हैं—रेडियो और टी. वी., तो वहां हम देखते हैं कि जो प्रोग्राम किये जाते हैं वे प्राय: एक विकासशील देश की मानसिकता से मेल खाते नहीं होते। होना जबकि यह चाहिए कि एक विकासशील देश एसक्चेंज बेसिस पर दूसरे विकासशील देश के प्रोग्राम मंगवाकर दिखाए, ऐसा क्यों नहीं होता ?

मृणाल पांडे : एक तो कारण सीधा-साधा है--तकनीकी। उन देशों में तकनीकी महारत हासिल हो गया है, उसे देखते हुए कहा जा सकता है कि उसमें ऐसा 'फिनिश' होता है कि उपभोक्ताओं को पसन्द आता है। इसमें काफी हद तक हम लोगों के दिमाग के औपनिवेशिक दबाब भी हैं, एवेलेबिलिटी की भी बात है।

महेश दर्पण : आपने कई विधाओं में अध्ययन किया है जैसे शास्त्रीय संगीत, चित्रकला आदि ... पर इधर आप लेखन के क्षेत्र में इतना आगे बढ़ आई हैं कि उन विधाओं की ओर ध्यान देना मुश्किल है। आप कभी महसूस करती हैं जैसे कुछ छूट गया हो ?

मृणाल पांडे : ऐसा है कि कलाकार का मन कहीं पर इस कदर बहुत दृढ़ और पूर्ण होता है कि उसे किस विधा में काम करना है, मेरे मन में कभी भी इस बात को लेकर दुविधा नहीं थी कि मुझे किस क्षेत्र में काम करना है। इतना जरुर था कि संवेदनाशीलता कला के प्रति थी और मेरी मां से मुझे संस्कार भी मिले थे। संगीत का उन्हें अब भी बहुत शोक है। बचपन में हमने बहुत स्तरीय शास्त्रीय संगीत सुना है हमारे घर में जिस तरह से अच्छी कहानी पर चर्चा होती थी, उसी तरह से म्यूज़िक कांसर्ट पर भी चर्चा होती थी। यह एक सहज रुचि थी। संगीत के विषय में भी, और चित्रकला के विषम में भी।

महेश दर्पण : खुद को अभिव्यक्त करने के किसी कलाकार के पास कई रास्ते हों और उनमें से उसे कोई एक चुन लना हो तो यह दिक्कत तलब तो होता ही है ?

मृणाल पांडे : नहीं, मुझे नहीं लगता कि वह दिक्कत तलब काम है। क्योंकि एक इंस्टिंक्टिव गहरी भीतरी समझ आपके पास होती है कि...आपका अपना सशक्ततम पहलू कौन सा है। लेखन का तो ऐसा था कि जैसे बतख का बच्चा पानी में ही बड़ा होता है तो तैरना उसके लिए कोई अजूबा नहीं है। हालांकि मैंने पढ़ाई खत्म करने से पहले एक शब्द नहीं लिखा। कालिज की मैगजीन तक में नहीं लिखा। छोटी थी तो जरुर अपनी क्लास के बच्चों के लिए कार्टून स्ट्रिप बनाया करती थी। भाई-बहनों के लिए कहानियां लिखा करती थी। घर में ही हम लोग एक अखबार निकालते थे। इस तरह की लफ्फाजी हम लोग किया करते थे, पर इस तरह से नहीं कि हमें कोई बड़ा काम करना है। जहां तक चित्रकला और संगीत का सवाल है, 'फैसिनेशन' मुझे शुरु से ही था। चित्रकला का ये था कि हम लोग वाशिंगटन में थे तो इस बात का अवसर था कि मैं विधिवत इसका अध्ययन कर सकूं। इसका अध्ययन मैंने बतौर विद्यार्थी ही किया। संगीत का ये था कि लेखन की ही तरह अंदर से कुछ ऐसा था कि मैं 'म्यूजिक' सीखना चाहती थी। आगरा घराने की दीपाली नाग से संगीत सीखा। पर संगीत मुझे बहुत आंतरिक आनन्द देता है। मैंने जिंदगी में मात्र अपने लिए शायद कोई काम नहीं किया पर संगीत-साधना सिर्फ अपने लिए करती हूं। पर जब मैं संगीत का अभ्यास करती हूं तब मैं न फोन सुनती हूं, न बच्चों से बात करती हूं... न घर में देखती हूं कि क्या हो रहा है, क्या पक रहा है, कौन आया, कौन गया। वह मुझे इतना सुख देता है, इतना रिलेक्स करता है कि मुझे लगता है कि उसका उद्देश्य मेरे लिए कम से कम यही है कि मैं किसी राग को अच्छी तरह गा पाऊं ... गाकर दूसरों को रिझाने या अभिभूत करने की इच्छा नहीं होती। लिखने की बात दूसरी है। बिना पाठकों का ख्याल आये रहना, मुश्किल है वहां।

महेश दर्पण : 'वामा' का कार्यभार संभालने के बाद आप एक नये अनुभव से जुड़ी, जाहिर है कि इसने आपके दूसरे कार्यक्षेत्रों को प्रभावित भी किया होगा। एक रचनाकार जब किसी पत्रिका का संपादक बनकर काम करता है तब उसके दिमाग में कई चीजें होती हैं, बहुत से आदर्श होते हैं। मेरे सवाल का सीधा मतलब यही है कि 'वामा' का संपादन संभालने के बाद आपके दूसरे कार्यक्षेत्र कितने प्रभावित हुए हैं और एक संपादक की हैसियत से आप कितनी संतुष्ट हैं ?

मृणाल पांडे : जहां तक संतोष का सवाल है, मेरा ख्याल है कि रचनाकार कभी भी संतुष्ट नहीं होता, चाहे वह रचनाकार हो या संपादक, पर यह ज़रुर है कि इसने मेरे अनुभव-क्षेत्र को बहुत फैलाया है। आप एक संपादक बतौर पूरे रचना-क्षत्र को एक तटस्थता की नजर से देखते हैं। मेरे एक संपादक मित्र हैं उन्होंने मुझसे कहा था कि मीडियाकर लोगों द्वारा मीडियाकर लोगों की रचनाएं मीडियाकर तरीके से पेश करना ही सफल पत्रकारिता है। पर मैं इससे सहमत नहीं हूं। मैं मूलतः स्वप्नदर्शी हूं, मैं यह नहीं

कह रही हूं कि मैं एक बहुत अच्छी पत्रिका निकाल रही हूं ...मैं यह कहूंगी कि हां, यह मेरा सपना है कि एक बहुत अच्छी पत्रिका निकाल सकूं। यह एक बेकार का कलंक है कि हिंदी में अच्छी पत्रिका निकल नहीं सकती। मैं चाहती हूं कि भले ही पत्रिका में कहीं मेरा नाम न हो, पर यह कलंक न लगे कि हिंदी में अच्छी पत्रिका नहीं निकल सकती। जहां तक रचनाओं के बारे में सवाल है, एक लेखक में इतनी विनयशीलता होनी ही चाहिए कि 'जिस तरह का वह लिख रहा है, सोच रहा है', वही संपूर्ण है, यह वह न सोचे। मुझे लगता है कि इस पत्रिका की सार्थकता इसी में है कि स्त्रियों को अपने बारे में सोचने का समय मिले। अपने बारे में कहने का मौका मिले। जहां तक व्यवसायिक सफलता का सवाल है, व्यवसायिकता मेरा क्षेत्र है ही नहीं।

महेश दर्पण : संपादन के क्षेत्र में काम करने के बाद आपका रचनाकार कितना प्रभावित हुआ है ?

मृणालपांडे : मैं इस मसले में डायनासॉर की तरह से हूं कि पूंछ दबने के दो साल बाद उसको दर्द होता है। अभी तो मैंने अपने को एक अनुभव में डाल दिया है। इसका अब मुझ पर क्या असर पड़ेगा यह मैं नहीं कह सकती। अभी तो एक ही साल हुआ है, यह तो मेरी रचनाओं से ही स्पष्ट होगा।

पाठकीय

- विपाशा में प्रकाशित रचनाओं पर पाठकों की प्रतिक्रिया एवं रचनात्मक सुझावों की हमें अपेक्षा रहेगी। स्वस्थ प्रतिक्रियाओं को आगामी अंक से लेखक-पाठक संवाद के उद्देश्य से पाठकीय के अन्तर्गत प्रकाशित भी किया जाएगा।
- वार्षिक शुल्क मनीआर्डर द्वारा भेज कर या नकद जमा करवाकर आप इसके नियमित ग्राहक बन सकते हैं। विभाग के शिमला स्थित निदेशालय के अतिरिक्त प्रदेश के सभी जिला भाषा अधिकारियों के कार्यलयों से भी पत्रिका प्राप्त की जा सकती है।

कहानी

अम्मा की चिट्ठी

□ पुन्नी सिंह

अम्मा की चिट्ठी उस दिन फिर आई।

उनकी चिट्ठी अक्सर आती है। मैं देखते ही पहचान जाता हूं और मोड़ कर जेब में डाल लेता हूं। कभी-कभी चिट्ठी एक जेब से दूसरी जेब में अनेकों बार आती-जाती रहती है लेकिन मैं पढ़ने का साहस नहीं जुटा पाता हूं। और फिर पढ़ूं भी क्या? उन्होंने वही सब तो लिखा होगा ... अपनी भूरी भैंस जन गई है, खूब दूध देती है ... तू अपनी बहू और बेटे को लेकर यहां चला आ, दूध पी-पी कर तुम सब मुटा जाओगे ... अब की बार गांव में आम खूब फले हैं, आसाढ़ में पकेंगे, तू ज़रुर आना... इटार वाली मौसी के छोटे लड़के की शादी है, काली नदी पार बारात जाएगी, तू नहीं आएगा तो मौसी नाराज होगी ... अपनी गली की धोबिन दादी मर गई, सांप ने काटा था, निगोड़े कभी उनकी याद तो कर लेता, वे तेरे को कितना प्यार करती थी ...।

वैसे अम्मा के लिए काला अक्षर भैंस बराबर है। वह मुहल्ले-पड़ोस के किसी कम पढ़े छोकरे से मिन्नत-आरजू करती होगी, उसको कुछ खिलाने का लालच देती होगी। तब वह छोकरा चींटे जैसे गोड़ बना-बना कर चिट्टी लिखता होगा। चिट्ठी को लेटर बाक्स तक वह खुद ही ले जाती होगी और 'लेटर बॉक्स' में चिट्ठी डाल कर उस को एक-दो बार हाथ से पीट कर हिलाती होगी ताकि कहीं बीच में चिट्ठी अटकी न रह जाये। क्या पता अम्मा का पुराना विश्वास अब तक जीवित हो कि चिट्ठी 'लेटर बाक्स' में डालते ही उस स्थान पर पहुंच जाती है जहां भेजनी होती है।

पहले जब मैं रश्मि को अम्मा की चिट्ठी पढ़ाता था तो वह हंसते-हंसते लोट-पोट हो जाती थी और बार-बार पढ़ कर खूब मजा लेती थी, लेकिन अब वह बात नहीं रही, अब तो रश्मि अम्मा की चिट्ठी को देखते ही चिढ़ जाती है। कभी-कभी तो अम्मा की चिट्ठी की चर्चा चलते ही उसके नथुने फूलने पिचकने लगते हैं। गुलाबी गाल सुर्ख पड़ जाते हैं, और आंखों में क्षोभ उतर आता है। चिट्ठी हाथ लगते ही या तो फाड़ कर फेंक देती है या माचिस लगा कर बला देती है, और मेरे खानदान को

असभ्य और जंगली घोषित कर देती है।

हमारे ऊपर-नीचे और अगल-बगल में जितने भी फ्लेट हैं, उनमें रहने वाले लोगों में हमारे यहां आने वाले पत्रों को लेकर काफी कानाफूसी होती है। भाषा और लिखावट को पहचान कर मेरे परिवार की आर्थिक और शैक्षिक क्षमता की नाप-तोल में लगे रहते हैं।

मेरे नीचे वाला फ्लेट डॉ० अजय का है। उनकी धर्म पत्नी अम्बिका जी की पूरी कालोनी में धाक है। कोई घर ऐसा नहीं जिसका कोई कोना अम्बिका जी से अछूता हो। और कोई घर ऐसा भी नहीं जिसकी अम्बिका जी के रहते, अपनी कोई गोपनीयता हो। किसी घर के डाईनिंग रूम से लेकर गैस चूल्हे तक जो कुछ घटित होता है उसका रोजनामचा अम्बिका जी के पास जरूर रहता है। अपने लखपति मां-बाप और करोड़पति सास-ससुर के अनेकों किस्मों से उनकी जबान तर रहती है, लेकिन मजाल क्या है कि अम्बिका जी के रहते कालोनी की कोई महिला अपने मां-बाप और सास-ससुर की हैसियत का बखान ऊंचे स्वर से भी कर सके। ऐसा होते ही अम्बिका जी 'फांई से' छींक देती हैं और नाक सुड़क कर एक झटके में सिद्ध कर देती हैं कि यह सब झूठ है।

अम्बिका जी एक बार मेरे फ्लेट में बैठी थी। रश्मि चाय बना कर लाई तो चाय का प्याला पकड़ते ही वे बोली—रश्मि जी तुम्हारे पापा-मम्मी हर महीने आते हैं लेकिन डॉ यादव के पापा-मम्मी

कभी नहीं आये। आप लोग भी कभी उनके पास जाते नहीं सुने।

—असल बात यह है अम्बिका जी, हम लोगों की 'लव मैरिज' हुई है इस लिए उनके पापा-मम्मी ने हमसे रिश्ता तोड़ दिया है, रश्मि ने बिना झिझके हुए उत्तर दिया।

—वे लोग करते क्या हैं?

—पुनीत के पापा बड़े जमींदार रहे हैं। आज भी उनके पास काफी जमीन है। नौकर-चाकर, ट्रेक्टर ट्यूबवैल सब कुछ है।

—'अच्छा!' अम्बिका जी छींकते-छींकते रह गई।

वे अपने पर्स से चिट्ठी निकाल कर रश्मि की ओर बढ़ाती हुई बोली—'ये

चिट्ठी देखना रश्मि जी ! नीचे डाकिया दे गया है। लगता है तुम्हारी ससुराल से आई है। क्या तुम्हारी सासु ने लिखी है ?... छिः बड़ा घटिया राईटिंग है और न मालूम क्या-क्या लिखती है।'

चिट्ठी लेते हुए रश्मि के हाथ कांप गये और उसके चेहरे का रंग उड़ गया। फिर भी बात बिगड़ने से पहले ही वह संभल गयी; कहा—'अरे, कैसी बात करती हो अम्बिका जी ! मेरी सास की भला ऐसी चिट्ठी होगी ? वे तो उस समय की 'ग्रेजुएट' हैं जब गांव की तो कौन कहे शहरों में भी लड़कियां नहीं पढ़ती थी। ये चिट्ठी तो उन के गांव की कोई बुढ़िया है, उसकी है।' ...

अब की बार अम्बिका जी ने इतना गहरा छींका कि नजला रश्मि के पास तक पहुंच गया।

उसी दिन से अम्मा की चिट्ठी से रश्मि को घृणा हो गई।

मैं अपनी जिन्दगी का भीतर-बाहर सब कुछ रश्मि को पहले ही बता चुका था। मैं एक निहायत साधारण किसान की तीसरी और अन्तिम सन्तान हूं। और जैसा कि मुझ को बचपन में बताया गया था, मेरा जन्म भारत की आजादी की घड़ियों के थोड़ा आगे-पीछे एक पूर्णिमा की रात को हुआ था, इसलिए मेरा नाम पूर्णिमा सिंह रखा गया था। गत दस सालों में निरन्तर उस नाम को घिस-घिस कर छोटा और सुसंस्कृत करने में लगा रहा हूं। आज मेरा नाम पूर्ण सिंह से 'पुनीत' हो गया है जो मेरे और रश्मि के लिये गहरे सन्तोष का विषय है।

मेरा बचपन उत्तर भारत के एक बहुत ही पिछड़े हुए गांव में गुज़रा है जो रेलवे लाईन से सौ किलो मीटर दूर और मुख्य सड़क से पचास किलो मीटर दूर पहले भी था और आज भी है। उसी गांव के पछाईं ओर के तालाब किनारे की जिस बाखर की दहलीज में दो ईंटों पर बैठकर मेरी अम्मा ने मुझे जन्म दिया था उसकी पिछली दीवाल इसी वर्ष आषाढ़ में बैठ गई है, और अगले बड़े दरवाज़े की किवाड़ चौखट बैनीराम सेठ अपने पिछले पावते में चुका ले गया है। बाखर के पिछले महल, जहां टूटी खाट पर फटी धोती बिछा कर मेरी मां ने मुझे सेहा था, उसके सामने फूंस के बिना छप्पर का ठाट बंधा हुआ रखा है, पिछले दो साल से गांव की जिन गलियों में बचपन में मैंने 'डूकी-मिचौना' खेला है उनके अनेक मकान खंडहर हो चले हैं। पूरे गांव में बैनीराम सेठ और चौधरी रघुराज सिंह के मकान ही सीना ताने, सिर उठाए हुए खड़े हैं। जिस स्कूल में मैं पांचवी तक पढ़ा हूं वह पिछले दो साल से खण्डहर हुआ पड़ा है, अब उसमें चौधरी के जानवर बंधने लगे हैं। ये सब बातें मुझे अम्मा की चिट्ठी से ही मालूम हुई हैं और मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि गांव का भूगोल कैसे बदल रहा है।

अपने गांव के स्कूल से पांचवी पास करने के बाद पड़ोस के गांव के मिडल

स्कूल में लगातार तीन साल तक मुझे काफी मुसीबतों का सामना करना पड़ा। कापी-किताबें खरीदने और फीस पटाने के नाम पर मैंने अपने पिता जी से खासी मार खाई है। मिडल करने के बाद हाई स्कूल में बहुत ही रो-पीट कर मैं प्रवेश पा सका था, लेकिन हाई स्कूल की प्रथम श्रेणी ने मेरे भाग्य के बन्द दरवाजे मानो खोल दिये। इन्टरमिडियेट में छात्रवृत्ति पा जाने के कारण घर और बाहर का मैं दुलारा हो गया। अब पिता जी को इस बात का खटका नहीं रहा कि अगर मैं पढ़ता रहा तो उनकी भैंसे कौन चराएगा। अब तो वे यदा-कदा मेरी पढ़ाई की बात करके मूंछ ऐंठने लगे थे।

बी० एस० सी० पास करने के पूर्व ही मेरा एम० बी०बी० एस० में सलैक्शन अपने आप में एक चमत्कार था। मुझे बहुत बाद में मालूम पड़ा था कि वह चमत्कार किसी दैव शक्ति से नहीं हुआ था बल्कि रश्मि के डैडी के प्रयास से हुआ था।

बी. एस. सी. के प्रथम वर्ष में डॉ० विनय मोहन मुझ से काफी चिढ़े-चिढ़े रहते थे। उस समय तक गांव का गवारपन मेरे शरीर और शब्दों में पूरी तरह घुला-मिला था। मैं सरसों का तेल बालों में इतना लगाता था कि टपकने की नौबत आती थी। 'कलसा' को क़ंसा और 'बाल्टी' को बांटी कहता था। डॉ० विनय मोहन इन सब बातों के लिए मुझे खूब लताड़ते थे और कभी-कभी तो जीव-विज्ञान पढ़ाना छोड़ कर समाज-विज्ञान और भाषा-विज्ञान पढ़ाने लगते थे। उस वक्त उनका व्यवहार कुछ बुरा लगता था, उनसे चिढ़ता भी था लेकिन आज स्वीकार करता हूं कि डॉ० विनय मोहन के प्रयास से ही मेरे बाहर-भीतर का देहातीपन पके हुए फूलों की तरह झड़ गया था और उसके स्थान पर सुसंस्कृत शहरीपन की बारीक कोंपलें फूटने लगी थीं।

उन दिनों रश्मि का हेलमेल मेरे साथ नहीं हो पाया था। मैं जब डॉ० विनय मोहन से बात-चीत करता रहता था तब वह कतरा कर निकल जाती थी। उसकी गदराई देह और रसीली आंखें देखने को मैं लालायित रहता था, लेकिन वह हमेशा मुझे देख कर भी अनदेखा कर देती थी। एम. बी. बी. एस. के दूसरे वर्ष में पहुंचते-पहुंचते रश्मि के स्वभाव में अनपेक्षित परिवर्तन हो गया। उस समय तक उसके यहां मेरा जाना-आना भी काफी होने लगा। छोटी या बड़ी किसी भी छुटी में मैं डा० विनय मोहन के यहां जरुर जाता था। उनकी अनुपस्थिति में भी मैं वहां कुछ घण्टों से लेकर कई दिन तक बिताता था। रश्मि की मम्मी बड़े प्यार से खिलाती-पिलाती थी, और रश्मि बातचीत स्नेह से करती थी। यही स्नेह आगे चलकर प्यार में बदल गया और बाद में उसी ने हम दोनों को एक दूसरे का जीवन साथी बनने के लिए प्रेरित किया।

मुझे अब तक याद है कि मेरे डाक्टर बन जाने की खबर ने मेरे गांव और पास-पड़ोस के इलाके को जितना

आश्चर्यचकित कर दिया था उससे भी कहीं अधिक रश्मि के साथ मेरी शादी की खबर ने लोगों को आन्दोलित किया था। जात-बिरादरी ने पिता जी का एक ही झटके में हुक्का-पानी बन्द कर दिया था। रिश्तेदारों ने रिश्ते तोड़ दिये थे। अम्मा ने क्षोभ के कारण अपना सिर फोड़ लिया था। पिता जी ने अम्मा को खूब कोसा था और मेरे बिगड़ जाने का सारा दोष उन्हीं के माथे मढ़ दिया था। अम्मा ने फिर भी चिट्ठी भेजना बन्द नहीं किया था। लेकिन उसके बाद किसी भी चिट्ठी में पिता जी का ज़िक्र तक नहीं आया।

यहां नौकरी में आने के बाद मैंने कई बार गांव जाने का मन बनाया लेकिन रश्मि तैयार नहीं होती। वैसे मैं अकेला रश्मि को बिना बताये भी जा सकता हूं लेकिन पिता जी की वे लाल-लाल आंखें और डरावनी गुर्राहट याद आती है जो बचपन में झेली थी, और मैं थर्रा उठता हूं।

मेरा पांच साल का लड़का गोल्डी मेरे बचपन के किस्से सुनना चाहता है लेकिन मैं उसे कैसे समझाऊं कि बचपन में मैंने दूसरों के खेतों से चुराकर गन्ना, गाजर और मटर की फलियां खाई हैं। गांव की गलियों में डुकी-मिचौना खेला है। होली पर भाभियों के हाथ से गोबर और कीचड़ से सराबोर हुआ हूं। सावन में बड़े बाग में खूब झूला झूला है। गांव में आने वाली बारात के दूल्हे को मुंह भर-भर गालियां दी हैं और धूल फांकते हुए बारात की बैल गाड़ियों के पीछे मीलों भागता रहा हूं। बच्चा क्या अर्थ लगाएगा इन बातों का जब कि रश्मि ही सब कुछ समझते हुए भी कुछ नहीं समझना चाहती।

मैं अपने फ्लेट की बालकनी में एक पत्रिका खोले हुए लगभग आधे घण्टे से बैठा हूं और गांव के बारे में सोचे जा रहा हूं। मेरे ठीक सामने सुभाष बाजार का घण्टाघर तक का खुला दृश्य है। विशाल इमारतों का अन्तहीन सिलसिला घण्टाघर को जगह देता हुआ उसके बाद भी काफी दूर तक चला गया है। अम्मा की चिट्ठी जेब में पड़ी-पड़ी कुलबुलाती है और फिर अचेत हो कर पड़ी की पड़ी रह जाती है।

बालकनी के ठीक नीचे अम्बिका जी का स्वर सुनाई पड़ा—'रश्मि जी, ज़रा नीचे तो उतर आओ! देखो, यहां तुम्हारे कोई मेहमान आये हैं। पुनीत जी का नाम लेकर तलाशते फिर रहे हैं।... रश्मि जी सुनती हो!'

मैंने उठकर बालकनी से नीचे झांका लेकिन मुझे कोई नजर नहीं आया। तब तक रश्मि की चप्पल सीढ़ियों पर चटकने लगी थी। मैं निश्चिन्त हो कर बैठ गया और घण्टाघर की ओर के दृश्य को फिर देखने लगा था। नीचे रश्मि के साथ अम्बिका जी का नहीं, किसी दूसरे का वार्तालाप चल रहा था लेकिन मैंने उधर ध्यान नहीं दिया।

रश्मि की चप्पल फिर चटकी। वह मेरे पास आ गई और तमतमाती हुई-सी बोली— वहां नीचे चल कर देखो तो कोई भिखारी जैसा आदमी खड़ा है। तुम्हारा नाम ले-ले कर बुला रहा है। मुझे तो लगता है तुम्हारे पिता जी हैं। अगर वो हुए तो गजब हो जाएगा, अम्बिका जी वहीं खड़ी-खड़ी मुस्करा रही हैं।

मुझे काटो तो खून नहीं। एक बार तो मन में आया कि रश्मि से कहलावा दूं कि मैं घर में नहीं हूं, लेकिन अम्बिका जी का ख्याल आते ही मुझे अपना विचार बदलना पड़ा।

मैं उठ कर नीचे जाने लगा तो रश्मि ने मेरा कन्धा पकड़ कर धीरे से कहा— मुझे तो लगता है, वे तुम्हारे पिता जी हैं। मैं कहती हूं, जैसे भी हो उन्हें यहां से विदा कर दो वर्ना अपनी कलई खुल जायेगी। वह हरामजादी अम्बिका पूरी कालोनी में गाती फिरेगी।

मैं साहस करके नीचे आया तो सन्न रह गया ... पिता जी ही थे। घुटनों से थोड़ी नीची मैली धोती, मोटे 'गाढ़े' का कुर्ता, जो बाहों से झरने लगा था और काफी मैला था। सिर पर जरजर पगड़ी, हाथ में 'यूरिया खाद' की बोरी का बना बड़ा झोला ' आंखे पूरी तरह से किचरा गई थीं और पलकों पर गहरी धूल छा गई थी। छोटी-भूरी दाढ़ी काफी घिनौनी लग रही थी।

मैं समझ नहीं पा रहा था कि आखिर मुझे क्या करना चाहिए। मैं पिता जी को लगातार देख रहा था और वे मुझे देखते रहे। अम्बिका जी हम दोनों को देख कर नाक सुड़क रही थी। एक बार मन में आया भी कि लपक कर अपने पिता जी के पैर छू लूं और झोला ले कर उन्हें सम्मान पूर्वक ऊपर अपने फ्लेट में ले चलूं, लेकिन अम्बिका जी की ओर देखकर साहस नहीं जुटा पाया। एक विचार यह भी आया कि अपने ड्राइवर किसनू को बुलवाकर उसके साथ पिता जी को किसी सस्ते होटल में ठहरा दूं फिर वहां जा कर मिलता रहूंगा। रश्मि की बातें और अम्बिका जी की सूरत के दबाब में मैं सन्निपात की स्थिति से गुजर रहा था। कोई विचार स्थिर नहीं रह पा रहा था—मेरा पूरा शरीर कांप रहा था।

उसी स्थिति में पीछे की सीढ़ियों की ओर मुड़ गया और मुड़ते-मुड़ते मैंने पिता जी की ओर संकेत करके कहा— आइये ऊपर।

वे सकपकाये हुए से मेरे पीछे सीढ़ियां चढ़ने लगे। फ्लेट के दरवाजे पर रश्मि हक्की-बक्की-सी खड़ी देख रही थी। गोल्डी डर कर अपनी मां की टांगों से चिपक गया। मैं पिता जी को अपने कमरे में ले गया। मैंने उनके हाथ से झोला खींच कर एक कौने में फेंक दिया। उसमें से दो किलो घी का डब्बा निकल कर एक ओर को लुड़कने लगा, बाद में उसका मुंह खुल जाने से घी बाहर आ निकला। मक्का के सत्तू की एक पोटली

भी बाहर पड़ी था जो मूंग की दाल की भिगौरी सत्तू की पोटली से भी आगे आकर छिटक गई थी। पिता जी उन सब को देख रहे थे और मैं केवल उनको देख-देख कर उफन रहा था।

मैं क्षोभ से गीले स्वर में बोला—आपको यहां आने को किसने बोला था? मेरी इज्जत का कुछ तो ख्याल किया होता। यहां आने से पहले चिट्ठी डाल कर पूछ लेते,... कम से कम साफ सुथरे कपड़े ही बनवा लिये होते।

पिता जी ने रुक-रुक कर कई बार मेरी ओर देखा, थूक गिटका और गहरी सांसे लेने लगे। उनकी आंखे सजल हो चली थीं, और चेहरे की झुर्रियों में विषाद भर कर उभर आया था। मैंने थरथराते स्वर में एक बार फिर कहा—तुम्हें मालूम नहीं है, मैं यहां का कितना बड़ा आदमी हूं, यहां आकर तुमने मेरी सारी इज्जत माटी में मिला दी ...

—अब हम तुम्हें का समझाएं भैया। वो ससुरी तुम्हारी महतारी जान लेवा है। ससुरी को हेजु फटो पड़तो ...।

पिता जी ने कुछ इस ढंग से कहा था कि अगर अम्मा उनके सामने होती तो वे मारे बिना नहीं मानते। मेरी आंखों के सामने बचपन के वे सारे दृश्य उभर आये जब मैं और अम्मा बात की बात में पिता जी के हाथों बेरहमी से धुने गये थे। उस समय मैंने कभी अनुभव नहीं किया था कि पिता जी के पास मार-गाली के अलावा भी और कोई भाषा है।

आज पिता जी मुझे बड़े दयनीय लगे। मेरे मन का सारा क्षोभ उनकी ओर देख-देख कर घुलने लगा। मैंने झुक कर उनके पैर छू लिये। इससे पहले आतंक के साथ अनेक बार पैर छुये हैं लेकिन आज मैं एक अजीब तरह की सहानुभूति से गद-गद हो गया। मैंने उन्हें बांह पकड़ कर पलंग पर बिठाया तो उनका शरीर कांप रहा था और वे मेरी ओर नहीं, दीवाल पर नज़र जमाए थे।

मैंने रश्मि को समझा लिया। तय हुआ कि पिता जी के नाप के अच्छे कपड़े सिलवाकर उन्हें पहनाये जायें। नहला-धुला कर साफ सुथरा बना दिया जाय, और सम्मानपूर्वक रखा जाये, लेकिन फिर भी पास-पड़ोस के लोगों को यह न बताया जाये कि ये मेरे पिता जी हैं। अम्बिका जी से खास तौर से राज़ छिपाकर रखा जाये। रश्मि भी बेमन से कुछ बातों के लिए सहमत हो गयी।

मेरे घर की नौकरानी गौरी और ड्राइवर किसनू ने हम लोगों की काफी मदद की। पिता जी भी उनसे बहुत जल्दी हिल-मिल गये। किसनू उनके नाप के दो कुर्ते सिलवा लाया

ग्रौर एक जोड़ा 'परमसुख' की धोती ले ग्राया।

नहा-धो कर नये कपड़े पहिन कर जब पिता जी खाने को बैठे तो शायद उनको ग्रपना शरीर भी पहचान में नहीं ग्रा रहा था। वे ग्रब तक भी हक्के-बक्के थे। खाना खा नहीं रहे थे, निगल रहे थे। रश्मि ग्रौर गोल्डी को ग्राते-जाते गुमसुम उत्सुकता से देख रहे थे। उनके चेहरे का विषादयुक्त तनाव ग्रब तक ढीला नहीं हुग्रा था।

रात को सोने से पहले उन्होंने किसनू से पकड़वा कर गोल्डी को कई बार ग्रपने पास बिठाना चाहा लेकिन वह हर बार चीख कर भाग ग्राया। उन्होंने रश्मि से भी एक-दो बार बात करनी चाही लेकिन उसने उन की ग्रोर देखा तक नहीं। मुझे कुछ-कुछ बुरा भी लगा। रश्मि के डैडी हर महीने बड़े ठाट से हमारे यहां ग्राते हैं। मैं उन की बेहद इज्जत करता हूं। फियेट कार से उतरते ही उनके पैर छूता हूं ग्रौर हर बात में उनके साथ सहमति ग्रौर सम्मान का भाव प्रकट करता हूं, तो क्या रश्मि का यह दायित्व नहीं है कि मेरे पिता जी के साथ वह भी वैसा ही बर्ताव करे ग्रौर ज़्यादा नहीं तो कम से कम उन से बात तो करे। मैं रश्मि से यही सब कहना चाहता था लेकिन उसके सामने मेरा बोल नहीं फूटता था।

उस दिन दोपहर से ही हमारे घर की बातों को लेकर पूरी कालोनी में खुसफुसाहट शुरु हो गई थी। ग्रम्बिका जी कई चक्कर काटकर गई थी। कुछ लोगों के बच्चे भी टोह लेने हमारे यहां बार-बार आने लगे, लेकिन हम ने कुछ ऐसी व्यवस्था की थी कि पिता जी की किसी को हवा तक न लग पाये। एक तरह से वे कमरे में कैद रखे गये थे।

रात को करीब ग्यारह बजे, मैं दबे पांव कमरे में घुसा। सोचा था कि वे ग्रब तक सो चुके होंगे ग्रौर मैं लाइट ग्राफ करके ग्रपने कमरे में सोऊंगा। लेकिन वे ग्रब तक छाती पर दोनों हाथ रखे चित लेटे जाग रहे थे ग्रौर ग्रपनी सजल ग्रांखों से सूनी छत को निहार रहे थे।

मैंने धीरे से पूछा - बत्ती बन्द कर दूं?

वे उठ कर बैठ गये ग्रौर उतने ही धीरे से बोले—हम सवेरे चले जायेंगे पूरना।

मैं चौंक कर उन के मुंह की ग्रोर देखने लगा। बचपन में ग्रम्मा मुझ को पूरना कहा करती थी। ग्राज भी उनकी चिट्ठी में मेरे लिए वही शब्द इस्तेमाल होता है। पिता जी ने 'ऐरे' 'तूरे' से ग्रागे कोई सम्बोधन मेरे लिये इस्तेमाल नहीं किया है। ग्राज वर्षों की मेहनत के बाद मैं 'पूरना' से पूर्ण सिंह ग्रौर पूर्ण सिंह से 'पुनीत' हो चुका हूं, तब पिता जी के मुंह से वह पच्चीस साल पुराना सम्बोधन सुन कर मेरे

अन्दर अजीब सी सिहरन पदा हुई। लगा कि आज की सभ्य जिंदगी में यद्यपि पुराने असभ्य (?) सम्बो धनोंके के लिये कोई जगह नहीं बची है लेकिन उन सम्बोधनों की मिठास अपनी जगह कायम है।

वे गहरी सांस छोड़ कर एक बार फ़िर बोले— ज ससुरी तुमाई पढ़ाई-लिखाई हमाये लाने तो प्रान लेवा बन गई ...।

—क्यों आप को यहां कोई तकलीफ है ?

—अब तुमें कहा बतावे हम !

मैंने उनकी तकलीफ के बारे में पूछा था लेकिन इस में पूछने की कोई बात नहीं थी। मैं उनके हिये का सब कुछ समझ रहा था।

वे फिर लेट गये और बोले—जाओ, सोओ। हम सवेरे चले जायेंगे।

मैं लाइट आफ कर के कमरे से बाहर चला आया। मेरा मन पूरी तरह से आन्दोलित हो उठा था, फिर भी किसी तरह का विद्रोह करने की स्थिति में मैं नहीं पहुंच पाया था।

मैंने रश्मि को झकझोर कर उठाया और बड़े आरजू भरे स्वर में कहा—रश्मि हमारे व्यवहार से पिता जी को काफी ठेस लगी है। तुम सवेरे उन से हिल-मिल कर बात करना। गोल्डी को भी उनके पास जाने देना।

—मैं कहती हूं, तुम सो जाओ। इन बातों के लिए सवेरा होगा ...। एक तो मैं तुम्हारी मां के पत्रों से परेशान हूं। पूरी कालोनी में कहीं मुंह दिखाने लायक हम नहीं रहे। इस बूढ़े ने ऊपर से आकर नाक कटा दी। तुम समझते हो किसी को मालूम नहीं पड़ा है ! सब कोई जान गया है कि ये भिखारी जैसा आदमी तुम्हारा बाप है। मैं कहती हूं कल सवेरा होने से पहले ये आदमी यहां से चला जाना ...चाहिए। रश्मि फनफनाती हुई तकिए को छाती से समेटती लेट गयी।

पिता जी दिन निकलने से पहले तो नहीं गये। दिन निकलने के काफी बाद मैं अपनी फियेट गाड़ी में बिठा कर उन्हें जब घर को विदा कर रहा था तो ठीक मेरे पीछे डॉ० अजय और अम्बिका जी खड़े थे। किशनू गाड़ी लेकर जब स्टेशन को चला गया तो डॉ० अजय ने मुझ से पूछा—ये कौन थे, वैसे चेहरा मुहरा तो आप से मिलता था, क्या पिता जी थे ... ?

मैं पहले तो हड़बड़ाया, लेकिन तत्काल सम्भल कर उन्हें जबाब दिया—नहीं... मेरे यहां का बहुत पुराना नौकर है। मुझे बचपन में काफी प्यार करता था। इसी लिए यहां तक चला आया। बहुत अच्छा आदमी है बेचारा।

अम्बिका जी ने झट से मेरी बगल में छींक दिया और नाक सुड़क ली।

मैं उलट कर सीढ़ियां चढ़ने लगा तो मेरी जेब में पड़ी अम्मा की चिट्ठी पर मेरा हाथ जा टिका। ●

(१७८, तानसेन नगर, ग्वालियर, म०प्र०)

व्यंग्य रचना

बनना एक अफसर का

□ आनन्द

उस दिन कुछ भी नहीं हुआ था, हुआ सिर्फ यह कि मुंह अंधेरे दासानुदास सांईदास खबर लाए कि लम्बूराम जैन की फाईल को पंख लग गए हैं और वह अपना चिरस्थायी निवास त्याग ठीक उच्चाधिकारी के चश्मे के फोकस में आ गई है, लिहाज़ा अब श्री लम्बू राम का प्रमोशन होना रात के बाद दिन होने की तरह निश्चित है। खबर का आना था कि कान और मुंह के संयोग से शब्द उड़ चले और मेरे तेरे दरवाज़े पर होते हुए लम्बूराम के बरामदे में आ गिरे। थोड़ी देर में ही शान्ति की चादर लपेटे सोया लम्बू भाई का घर करवट लेकर जाग उठा। बड़ा सुपुत्र साईकिल लेकर सड़क पर यह जा और वह जा ... श्रीमती लम्बू राम दन से छत की तरफ दौड़ी, देखने के लिये कि बधाई देने वालों ने आना शुरु किया या नहीं। उनका समुन्नत वक्ष एक बार उठा तो शायद गिरना ही भूल गया था। आंखों की चमक बढ़ गई थी और चेहरे पर रुआब की लाली एकत्र होने लगी थी। बड़ी देर तक उनकी नज़र भिन्न-भिन्न दरवाजों पर रेंगती रही और साड़ी के आंचल को बेपरवाही से संभालती वे सीढ़ियां उतर गई। उनकी मुखमुद्रा जैसे कह रही थी कि अब देखती हूं, मुआ कौन नहीं आता। एक-एक से समझ लूंगी। दरवाजे खुलने और बन्द होने लगे। कॉलबेल बजने लगी और थोड़ी देर में बधाई देने वालों का तांता लग गया, कुछ उसी प्रकार जैसे बड़े शहरों में संडास के सामने लोग प्रातः काल अपना पेट दबोचे खड़े रहते हैं।

'दिर आयद दुरुस्त आयद' के कायल हम अभी रजाई की गिरफ्त में ही थे कि पत्नी ने आकर सारी रजाई झिझोड़कर रख दी। उनके खुले मुंह से शब्दों की बौछार उसी प्रकार हो रही थी जैसे नगरपालिका की दरियादिली बाजार में टूटी लाईन से फूटा करती है। अज़ी सुनते हो, लम्बू भाई साहब अफसर हो गये। आप सोये रहना, लोग बधाई देकर

पुराने भी हो लिये। रह जाओगे क्लर्क के क्लर्क। वह मुआ खन्ना फिर बाजी मार जाएगा। और इसके बाद 'मेरी तो किस्मत उसी दिन फूट गई थी' से आरम्भ होने वाले दो-चार चिर-परिचित वाक्य यह शब्दावली उन्हें बच्चों के पहाड़ों से भी बेहत याद थी। बात हमारी समझ में आते आते पत्नी ने चाय का प्याला हमारी नाक के नीचे टिका दिया और फिर मुंह खुला छोड़ दिया। पर इस बार वाक्यावली कुछ सावधानी से चुनी गई थी, 'जल्दी से चाय पीकर दे आओ न तुम भी बधाई। यही मौके होते हैं मेल-मिलाप बढ़ाने के। तुम्हें कौन घर से निकाल देंगे। ओहो, अब छोड़ो भी, यह दाढ़ी-वाढ़ी का चक्कर।' हम कुछ कहने जा रहे थे कि आती हुई जमुहाई ने रोक लिया और जमुहाई पत्नी का तमतमाया चेहरा देखकर ठिठक गई। हमने स्थिति का जायजा लेते हुए चल देने में ही कल्याण समझा।

झिझकते-सकुचाते हम लम्बू निवास की ओर चले। दरवाजे से बाहर घास में ही कृपाशंकर एक कुत्ते की जंजीर थामे उसे हाजत-रफा कराते हुए मिले। देखते ही खीसें निपोरकर बोले, 'हें, हें, बहुत समार्ट पपी है। जैन साहब का है। जरा घुमाने लाया था। मुझसे बहुत हिला-मिला है।' मैंने पूछा—'लम्बू भाई क्या घर पर ही हैं।' चारों ओर सावधानी से देखते हुए कृपाशंकर फुसफुसाकर कहने लगे 'अमां क्या कमाल करते हो, किसी ने सुन लिया तो...। जैन साहब कहो, अपने लम्बू भाई अफसर हो गए हैं। अब उनका नाम श्री एल० आर० जैन है। समझे ?' नये नाम के हिज्जे याद करते हुए धड़कते सीने से सीढ़ियों की बुलन्दी तय की। घण्टी पर हाथ रखने से पूर्व पीतल के अक्षरों वाली नयी चमचमाती नाम पट्टिका पर दृष्टि गई-एल० आर० जैन। तो बेचारे लम्बू राम का पुनर्नामकरण हो गया। घण्टी बजी, दरवाजा छोटे ने खोला। भीतर लम्बू भाई सोफे पर सवार बड़ी संजीदगी से किसी फाईल का मुआयना कर रहे थे। नीचे कालीन पर चरणों की शोभा बढ़ाते हुए दयाशंकर व महाशंकर बैठे थे। हमने कुछ अतिरिक्त विनम्रता जुटाते हुए नमस्कार किया। जीवन में पहली बार शंकर बन्धुओं से हाथ मिलाया और निश्चय किया कि घर लौटते ही हाथ डिटॉल से धोने हैं।

साहब की दृष्टि विनत रही। सकपकाते हुए हम बैठ तो गये किन्तु कुर्सी की गद्दी बार-बार हमारे नीचे से फिसल रही थी। बड़ी कठिनाई से उसे यथास्थान दबाते हुए हमने बधाई संदेश दिया, 'सर, सर'। लम्बू भाई को पहली बार सर कहते हुए मुंह का सवाद अजीब कसैला-सा हो आया। हमने किसी तरह थूक

निगल आगे कहा — 'बधाई हो सर आपकी प्रमोशन सर, बहुत पहले होनी चाहिए थी। फिर भी सर, चलो अच्छा ही हुआ सर।' कनखियों से देखा तो शंकर बन्धु मुस्करा रहे थे, जैसे कह रहे हों, बच्चू आ गये न राह पर। बहुत भागते थे रस्सी तुड़ाकर, अब आये बेटा पहाड़ के नीचे। धीरे-धीरे दृष्टि ऊपर उठी जैसे कोई पहलवान प्रतिद्वन्द्वी को चित्तकर मजे-मजे उठता है। कमान तनिक खिची। होंठों पर मन्द-मन्द मुस्कान तैरने लगी। चेहरा दिप-दिप करने कगा। लम्बू भाई नजले के पुराने मरीज़ थे। रूमाल निकाल ज़ोर से खखारा। रूमाल को नाक के पास दबाकर जोर से चार-पांच सांस लिये। फिर कुछ कहने का प्रयास करने लगे। किन्तु श्रीमती लम्भू को प्रवेश करते देख मौन हो गये।

श्रीमती लम्भू अपने भारी भरकम शरीर को सिल्क की साड़ी से बरवस ढांपे हुए बैठक में घुसी और चढ़ी हुई दृष्टि से चारों ओर उसी तरह निहारने लगी जैसे कोई पहलवान अखाड़े में उतरने से पहले चारों ओर देखता है। उनका नीम गेहुंआ रंग कुछ और निखर आया था। होंठों पर लिपस्टिक बहने की सीमा तक फैल गई थी और मांग में चौड़ी सिंदूर की लकीर लम्भू भाई के गिरते स्वास्थ्य को अभयदान दे रही थी। सामने एक कुर्सी पर हमें सिकुड़े हुए देखा तो गर्व से मुस्कराई, मानों कह रही हों—'क्यों? आना पड़ा न बच्चू, बड़ा ताव खाते थे। बड़ी उछल-कूद करते थे। आ गए न सही रस्ते पर।' पर गनीमत थी कि प्रकट में उन्होंने कुछ कहा ही नहीं। जैन साहब का उत्तर मुंह से शायद पेट की ओर वापिस हो लिया था क्योंकि वे अब अपना पेट बार-बार दबा रहे थे। किन्तु हाज़त दयाशंकर की हुई—'अजी प्रमोशन क्यों न होती। अपने चच्चाजाद भतीजे के साले का सगा ताऊ मनिस्टरी में बैठा है, सम्भाल लिया भाई ने मौके पर। हमने तो भतीजे से साफ कह दिया था, वह काम न हुआ तो बस हमारी तुम्हारी रिश्तेदारी खत्म।' श्रीमती जैन ने निहाल होकर उनकी ओर देखा। महाशंकर ने जब देखा कि सारा श्रेय चुपचाप दयाशंकर लिये जा रहे हैं तो तपाक से कह उठे—'और हमने जो तीन महीने से हनुमान चालीसा घोटा है, सो क्या कम है? कुलवन्ती की मां तो पिछले साल से ही सन्तोषी माता के व्रत रख रही है, भाई साहब यह उसी का प्रतिफल है। नहीं तो क्या कर लेना था तुम्हारे उस टटपूंजिया रिश्तेदार ने। चपरासी तो लगा है बेचारा।' श्रीमती जैन की निहाल-दृष्टि की दिशा बदल गई। लम्बू भाई के चेहरे पर लानत पुती हुई थी। कभी महाशंकर की ओर देखते और दृष्टि

की इस यात्रा में कभी मुझ पर भी कृपा-दृष्टि हो जाती । हमारे मुंह से बेसाख्ता निकल पड़ा — 'धन्य धन्य शंकर भाई । आपकी स्वामी भक्ति तो पूरे शहर में चर्चित है ।' बेचारे दया का खोपड़ा खाली मशक की तरह लटक गया था । उन्होंने अब बहाना कर उठ जाने में ही कल्याण समझा । जाते-जाते चोट करना न भूले — 'लो अब तो हनुमान चालीसा से प्रमोशन होने लगे । अब हमारी पूंछ कहां ? लगे हाथ एकाध प्रमोशन अपनी भी करा लो । हनुमान जी प्रसन्न हैं अभी, उठा लो फायदा । नहीं तो कलम घिसते रह जाओगे, हां ...।' लम्बू भाई की ओर करुणा-पूर्ण नेत्रों से निहार दयाशंकर दरवाजे से बाहर हुए, लम्भू-पत्नी ने फिर अपनी उसी नशीली मुस्कराहट के साथ कहा 'अरे भाई साहब, आप बुरा न मानना । इनकी तो आदत ही ऐसी है । मैंने तो सबेरे ही कह लिया था । प्रमोशन तो बड़े चौक वाले बाबा बजरंगबली का प्रसाद है । कल ही तो मैं सवा गज लाल लंगोट चढ़ाकर आई थी । हमारे तो अटके काम बस बाबा जी के आशीर्वाद से ही बने हैं ।' कहते-कहते उनके हाथ प्रणाम की मुद्रा में उठ गए ।

सक्सेना और सुनाओ, तुम्हारे क्या हालचाल हैं ? तुम तो भई, कभी आते ही नहीं ? हमसे कोई गलती हो गई क्या ? लम्भू साहब आज बेहद विनम्र थे । उनकी अतीशय विनम्रता मुझे बेहाल कर रही थी । मैं चाहता था कि लम्भू भाई मुझ में दोष निकाले, अपना गुस्सा प्रकट करे ताकि मुझे भी कुछ बोलने-कहने का अवसर प्राप्त हो । किन्तु लम्भू भाई तो जैसे पुट्ठे पर हाथ ही नहीं रखने दे रहे थे । 'मैं अभी तुम्हारा ही केस देख रहा था । तुम बहुत ऊपर जा सकते हो, बस तुम्हें थोड़ा इम्प्रूव करना पड़ेगा ।' लम्भू भाई की नई अफसरी अब कुण्डलिनी से ब्रह्मरंध्र की ओर ऊर्ध्वगमन कर रही थी । मेरे भीतर का क्लर्क कोई तीखा जबाब देने के लिए व्याकुल हो रहा था । किन्तु एफिशिएंसी-बार की तख्ती रास्ते में लटकी देखकर दिमाग के घोड़े ठिठक गये । 'मैं कोशिश करूंगा सर, जैसा आप गाइड करेंगे सर ।' मन ही मन कुढ़ रहा था कि साला इस महाशंकर के बच्चे के सामने अपनी अफसरी छांट रहा है । मेरी यह सर-सर की आवाज कल दफ्तर के हर कमरे में गूंज रही होगी ।

लम्भू भाई की प्रमोशन क्या हुई, मुहल्ले वालों को अपने बच्चों के जन्म दिन याद आ गये । बच्चे ससुरे कभी भी पैदा हुए हों, इससे क्या फर्क पड़ता है, किन्तु इससे अच्छा मौका जन्म दिन मनाने का हाथ नहीं आ सकता । मेरे बैठे-बैठे गौरीशंकर पुत्र के जन्मदिन का निमंत्रण दे गये, भोले शंकर को और कुछ नहीं सूझा तो शादी की वर्षगांठ मना डाली । मेरी जबान तालू से

चिपक गई, शब्द गले में अटक गये। न मुझे शादी की तिथि याद थी, न मुन्ने का जन्मदिन मनाने का कभी उत्साह हुआ था। मुझे लगा कि लम्भू भाई का प्रमोशन गलत मौके पर हो गया है। वक्त का तकाज़ा बढ़ रहा है। उधर याददाश्त साथ छोड़ रही है।

कृपाशंकर कुत्ते की हाजत आदि से निवृत होकर लौटे। अत्यन्त व्यस्त। कमरे में चारों ओर सावधान दृष्टि फेंकते हुए तथा अपनी उपस्थिति से अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करते हुए सुचिक्कण वाणी में बोले – 'तैयार हो जाइये, साहब। दफ्तर न जाइएगा' संकेत समझकर मैं उठ खड़ा हुआ— 'हां-हां, तैयार हो जाएं, सर। मैं भी चलता हूं अब।' उठते-उठते कृपाशंकर ने हांक लगाई, 'आज समय से पहुंच जाना — सक्सेना ! साहब का पहला दिन है। फिर आज तो सटाफ मीटिंग होगी।' मन ही मन कृपा के बच्चे को कोसते हुए मैं सीढ़ियां उतरने लगा।

पौने दस बजे लम्भू भाई नये सूट में सजे-धजे नीचे आकर खड़े हुए। सीना गर्व से कुछ अतिरिक्त फूला हुआ। चेहरे पर रौब और चश्मे के नीचे से घुरती हुई पैनी दृष्टि। ऊपर श्रीमती लम्भू राम खड़ी अपने अफसर पति को गद-गद दृष्टि से निहार रही थी। सबसे पहले कृपाशंकर अपने चमचमाते बजाज चेतक पर सवार आये 'चलिए, सर।' साहब ने तनिक मुस्कराते हुए थोड़ा रुकने का संकेत किया। शायद देखना चाहते थे कि कोई और भी आता है या नहीं। दो मिनट बाद दयाशंकर अपने राजदूत पर हाज़िर हुए और उन्होंने भी वही हांक लगाई। क्षण बाद ही महाशंकर लैम्बी पर सवार जाते दिखाई दिए। उनके पीछे गौरी शंकर का विजय डिलक्स कुलांचे भर रहा था। भोले शंकर का बड़ा पुत्र सुबह से अपने पुराने गिरनार को चमकाये जा रहा था। वे आकर पंक्तिबद्ध हो गये। सभी मुस्तेद साहब की कृपा दृष्टि के लिए उत्सुक प्रतीक्षा रत। देखें किसका भाग्योदय होता है?

मैं ऐसे मौके पर अक्सर पिछड़ जाता हूं। स्कूटर कितना उपयोगी होता है और नवनीत-लेपन कला के लिए कितना आवश्यक? यह आज ही ज्ञात हुआ। किन्तु इस बार मैं चूका नहीं, अपनी पुरानी साइकिल लिये आम के पेड़ के नीचे अपनी बारी के इत्तज़ार में खड़ा ही तो था। साहब के शरीर में थोड़ी जुंबिश हुई। कदम कुछ हिले। स्कूटर हिनहिनाए। किन्तु साहब सधे अदमों से चलते हुए मेरे निकट पहुंचे और हाथ उठाकर गंभीर वाणी में बोले— 'चलिए आप लोग, मैं सक्सेना के साथ आ रहा हूं।' लम्भू भाई की महानता पर मैं शर्म से पानी-पानी हो रहा था। ●

(प्राध्यापक, राजकीय महाविद्यालय ऊना, हि० प्र०)

कविता
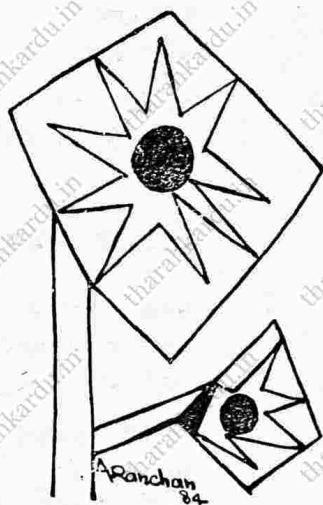
चार कविताएं

□ विश्वनाथप्रसाद तिवारी

सब जग चलता देखिया

शिमला की पहाड़ियों में उतर रही है रात
शिखरों को देवदारू वनों को
टिन की छतों को बाहों में घेरती
अपने ही भार से
कांपती थरथराती सुनसान

कोई नहीं है
कहीं कोई नहीं है
नक्षत्रों में
सौरमण्डलों में
आकाशगंगाओं में
अनन्त अन्तरिक्ष में
कहीं कोई नहीं है
सब अपनी-अपनी आग में जल रहे हैं
जल रहे हैं सब अपनी अपनी आग में

अलग अलग
अकेला अकेला

आग केवल आग
सब अपनी अपनी आग में जल रहे है।

भोर का समय

उजास फूट रहा है भोर का
धुंधलके में उभर रही हैं
मिट्टी की सूरतें

पेड़ पौधे वनस्पतियां
आकाश का रंग
पक्षियों की चहक
जल में झिलमिलाती छायाएं

बहुत खूबसूरत लग रही है रात
इस वक्त जब वह गुज़र रही है

भोर
निर्झर की तरह चारों ओर
नहाकर निकलेगा इसमें
दिन खिला हुआ

सद्य स्नाता प्रकृति
झिलमिलाती मुस्कराती
अन्धेरे के भीतर से दमकती
ताज़ा प्रसन्न मांसल
आने वाले दिन के लिए तैयार।

आंखें

उन आंखों के साथ साथ

सरग से सागर तक फैली
उन आंखों के साथ साथ

एक समुद्र असीम, अनन्त
लहराता है उन आंखों में

एक कैलाश अपनी महिमा में विराट
चमकता है उन आंखों में

सृष्टि
शुरु और खत्म होती है
धरती
उन आंखों में

उन आंखों के साथ साथ
समय को नापते हुए
लौट जाऊंगा एक दिन
उन आंखों की स्मृति में

ईश्वर, क्या वे तुम्हारी आंखें हैं
या तुम भी हो उन आंखों में ?

स्वतंत्रता

स्थिर हैं झरने नदियां हिरन
गो संविधान के तहत
उन्हें पूरी है स्वतन्त्रता
बहने और चौकड़ी भरने की।

निर्लज्ज

□ अमिताभ

स्वर्ण मृग से सुन्दर है उसका दीप्त शरीर
चपल बिजलियों की द्युति है
उसकी अर्ध उन्मीलित आंखों में
वज्र से कठोर है उसकी धवल दन्त पंक्ति
फिर भी वह सिर्फ़ कलियां ही बटोरता है

जंगल में स्थित डाक बंगले में
अलस्सुबह झाड़ू देता है चौकीदार

वह निर्लज्ज है, यह अलग बात है
उसने पेशाब कर दिया था
अपनी मां के गर्भ में
बाहर आते ही भूल गया अपने बाप का नाम
एक बेबस ऊबे हुए शहरी की तरह
ज़रूरत नहीं उसे दिन चुनने की
उसके बरामदे की रेलिङ्ग पर
चहचहाते हैं दिन
उसकी ठकुर सुहाती करते हैं सब मौसम

उसने घोषणा की थी सत्य की मृत्यु की
लेकिन सुबक दोष होता है
हर साल उसी का नाम लेकर
वह सन्धि-विच्छेद खूब जानता है
सामाजिक न्याय और बराबरी की आड़ में
फोड़ता है भाई को भाई से
बांटता है उनमें घृणा का राशन
निरीह लोगों को बनाता है रक्त पिपासु
स्वयं बटोरता है सिर्फ़ कलियों की फसल
उससे छिपा नहीं है
भीतर फैले सायों का विस्तार
उनसे धूप छांह खेलता है वह
दूसरों की कमज़ोरी भुनाता है
और हतप्रभ कर देता है

इतिहास उसके लिए बन्द किताब है
पर वह नस्लों को बचाने में लगा है
उद्घोषक है वह हमारे समय का
हमारी सभ्यता का प्रतिनिधि है
वह अपनी ज़मीन पर मज़बूती से खड़ा है
हम उसे हिला नहीं सकते
उसकी बन्द मुट्ठी में हैं
हमारे तमाम सवालों के जवाब ।

[८६४०/५ नया बांस, अम्बाला शहर]

युवा कवि दिविक रमेश को 'रास्ते के बीच' और 'खुली आंखों में आकाश' दोनों संग्रहों पर वर्ष १९८४ का सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार मिला है। यहां उनकी दो ताजा कविताएं प्रस्तुत हैं।

दो कविताएं

□ दिविक रमेश

पुल : एक आत्मकथ्य

तुम रोज़ गुज़रते हो मुझ पर से
और
किनारा पा लेते हो।

तुम्हारे ही द्वारा
गढ़े गए तुम्हारे ईश्वर सा
मैं रोज तुम्हारी
पार पा जाने की इच्छा
पूरी करने में
रत रहता हूं।

मैं रोज अपनी कुचली गई छाती पर
तुम्हारी पार पा जाने की संतुष्टि का
लेप कर लेता हूं।
हर रोज़ बिछा तुम्हारे कदमों में
मैं
अपना अहं गला देता हूं।

मेरी शक्ति, मेरा सामर्थ्य
केवल उद्देश्य है तुम्हारा,
तुम्हारा होना है।

मैंने कभी अपेक्षा नहीं की
और न ही
तुमने किया कभी शुक्रिया।

तुम्हारी तरह मैंने भी
यह सब
उतना ही सहज माना है।

लेकिन सोचो तो
होने को
हम सभी तो होते हैं पुल
किसी न किसी संदर्भ में।

लेकिन क्या सभी
बने रह पाते हैं पुल
हर घड़ी उस संदर्भ में।

सोचा है कभी तुमने
पुल
एक साधना है
प्रार्थना है मां की
दोस्तों की दुआ है।

वह ऊंचाई है पुल
जहां साधना ही सिद्धि है

पर सभी
पुल होना भी कहां चाहते हैं?

पुलों को रौंदना ही
स्वाद हो जिनके मुंह लगा
पुल होना भी कहां चाहते हैं!

पुल
होना भी कहां चाहते हैं!!

वृक्ष और आदमी

बहुत खूबसूरत होते हैं
फलदार वृक्ष,
ललचाते हैं
देवताओं सा।

फल
स्वभाव होते हैं वृक्ष का
पहचान होते हैं वृक्ष की।

ज़हरीला फल
पर्याय होता है
ज़हरीले वृक्ष का।

ज़हर हो फल
काटा जा सकता है
वृक्ष।

फल
पर स्वभाव नहीं होते
आदमी का
न ही पहचान होते हैं।

कब
ज़हर फल का
अमृत कर सकता है
इसे केवल आदमी जानता है।

[डी. १४४, सेक्टर-२०, नौएडा-२०१३०१]

नानी मां

□ रेखा

नानी मां
काशी की तरह
सनातन सत्य-सी
वर्तमान हो तुम
मेरे अन्तर्मन में...

अतीत के पिछवाड़े

झांक पाती हूं वहीं तक
जहां तक तुम्हारी ग्रांखों की
खिड़की खुलती है।

यों तो पढ़े हैं मैंने
इतिहास के भीमकाय ग्रंथ
पर उनमें जीये मरे
सभी पात्र
लगते हैं बहुत ग्रनजाने
युद्ध क्षेत्र बहुत बेगाने

कहीं भी तो होती नहीं
मेरी तुम्हारी ग्रम्मा की बात
कहीं ग्राता नहीं उस गली का ज़िक्र
जहां से गुज़री थी
मेरी तुम्हारी ग्रम्मा की डोली।

नानी मां
इतिहास की सभी किताबों से
ग्रधिक सच हो तुम

एक ऐसी कहानी
जिसका हर सुख हर दुःख
हमारे ग्रपने ऊपर
कदम कदम चलकर
तुम्हारी उम्र के साथ
पक गया है।

वक्त के हल ने
जोता है तुम्हारा चेहरा
एक रेतीले खेत की तरह
ग्रौर ग्रब वक्त ठहर गया है
रेत की लहरों सा
चेहरे की झुरियों में।

तुम गांव की पुरानी हवेली हो नानी
जिस घड़ी लांघा था तूने
इस हवेली का तोरण द्वार

तुम हो गई थी स्वयं हवेली
कितनी गहन कितनी विविध
बरसों बाद आज भी
हर आंगन गलियारे
हर खिड़की द्वार सीढ़ी चौबारे
चौंका देती है
तुम्हारी लाल हरी चूड़ियों की खनक
जहां वक्त घुंघरू-सा
रुन-भुन बजता रहता है।

चरखे पर पूनी-सा
कातती रहती हो तुम
सारे मूल्य सभी परम्पराएं
और हर बेटी नातिन को
तुम देती यह उपहार
ब्याह के जोड़े-सा।

पनघट पर सदियों पुराना
पीपल का पेड़ हो तुम नानी
अपने अपने आकाश में उड़कर
लौट आते हैं हम
तुम्हारी असंख्य टहनियों में
सांझ ढले गाने को
अपनी आशा निराशा के दीपक मल्हार।

जब तुम सबके संग गाती हो नानी
तुम्हारा बूढ़ा शरीर हो जाता है
सबके स्पंदन से तरंगित एक सा रंगी।

बचकानी कुलबुलाई भूख ने
जब भी रौंद-रौंद रुलाया मुझे
तुम रसोई घर थी नानी
रोटी के छिक्के की तरह गमकती
सरसों के साग की हांडी बन
सदा आग पर तपती महकती।

लड़कपन ने जिस आंगन में रचाये
गुड़ियों के ब्याह

तब तुम ही थी वह तुलसी का बिरवा
सपनों के राजा संग पड़ती हर भांवर को
कर डाला था जिसने इतना पावन ।

घर की हर दुल्हन ने
सींचा इस बिरवे में तुम्हीं को
बहुत गहरी आस्था की तरह ।

आज हवेली पहचान खोकर
बदल गयी है नानी
चार दीवारों के
उथले सपाट फ्लैट में ।

एक संदर्भ से दूसरे तक
मील मील भाग रहा है वक्त
पर तुम चैक पोस्ट की तरह
रोक देती हो जब तब
फिर फिर लौट आती हूं तुम्हारे पास
भरी दुपहरी की प्रखर प्यास बनकर
मंदिर के बाहर 'प्याऊ' के पास ।

सीमेंट के गमलों में
घर के आगे
कैक्टस सजाए हैं मैंने भी समय के साथ
पर घर का पिछवाड़ा
जो नितांत मेरा अपना है
अब भी मौजूद है वहां तुलसी का बिरवा ।

क्या हुआ खरीदे हुए नटराज
बरसों से फ्रीज़ हो गये मैंटल पीस पर
वह मन्त्रपूत गौरी
जो तुमने दी थी दहेज में
संभाल कर रखी है मैंने
अपनी बेटी के दहेज के लिए ।

तुम्हारा चेहरा एक दर्पण हो गया है नानी
देखती हूं उसमें अपना अस्सी साल पुराना चेहरा
फिर उस चेहरे में झांकती है मेरी बिटिया
फिर उसकी बिटिया ...।

[२७/१ बालूगंज शिमला-१७१ ००५]

१८७४ में पीटर्सबर्ग (अब लेलिनग्राद) में एक सुसंस्कृत परिवार में जन्मे निकोलाई रोरिक के सृजन का प्रमुख माध्यम चित्रकला रहा । इसके अतिरिक्त पुरातत्व, मूर्तिशिल्प, वास्तुशिल्प, विज्ञान, संगीत, दर्शन और कविता आदि के मेल से इनकी प्रतिभा और क्षमता सम्पूर्ण हुई कही जा सकती है। गोबी (अमेरिका) के रेगिस्तान व मध्य एशिया के बीहड़ पहाड़ी क्षेत्रों से लेकर हिमालय के अंचलों तक विश्व भर को समेटने वाले विश्व मानवतावाद के पक्षधर, शांति ध्वज के स्रष्टा इस कलाकार ने पहाड़ों को न केवल कला का बल्कि अपनी जिंदगी का भी हिस्सा बनाया और कुल्लू के गांव नग्गर में कला साधना के अंतिम बीस वर्ष व्यतीत करके १३ दिसम्बर १९४७ को यहीं समाधि ले ली । कविताओं के प्रकाशन के प्रति कुछ उदासीन रहते हुए भी यह गंभीर एवं चिंतनशील कवि अंत तक सृजन में सक्रिय रहा। हिन्दी अनुवाद में उनकी प्रस्तुत कविताएं संभवतः प्रथम प्रयास है।

निकोलाई रोरिक की तीन कविताएं

□ मूल रूसी से अनुवाद : वरयाम सिंह

कल

मुझे मालूम थी बहुत सी उपयोगी चीजें
पर मैं अब उन सब को भूल चुका हूं
लुटे हुए यात्री की तरह
अपनी सम्पति खोये निर्धन की तरह
मुझे याद आता है अपना वैभव
जिसका मैं कभी मालिक हुआ करता था

याद आता है अचानक, बिना सोचे
बिना जाने कि कब प्रकट होगा वह मृत ज्ञान !
कल ही तो मैं बहुत कुछ जानता था
पर एक रात की अवधि में ही
सब पर घना अंधकार छा गया है
यह सच है कि दिन महान था
और रात लम्बी और अंधकार भरी ।

महकती सुबह हुई
सब कुछ था आश्चर्यजनक और स्वच्छ
और नये सूर्य से आलोकित मैं
भूल गया, खो बैठा
जो कुछ जुटा रखा था मैंने ।

नये सूर्य की किरणों के नीचे
मेरा ज्ञान पिछल गया, गड्ड-मड्ड हो गया
मैं अब पहचान नहीं पाता
अपने मित्रों, अपने दुश्मनों को ।

मुझे नहीं मालूम कब सामना होगा खतरों से,
मुझे नहीं मालूम कब रात होगी ।

मैं नये सूर्य का स्वागत नहीं कर सकूंगा ।
इस सारे वैभव का मैं कभी मालिक था
पर अब मैं वैभवहीन हूं ।

अपमानजनक है यह कि पुनः जानने लगूंगा
वह कल जिसकी पहले कभी जरुरत नहीं रही ।
और बहुत लम्बा है आज का दिन
कब आयेगा—वह कल ?

नृत्य में

डरो
जब चुप बैठी चीजों में हरकत आने लगे
जब सहमी-सी डरपोक हवायें तूफानों में बदल जायें,
जब लोगों की बोलियां भर जायें अर्थहीन शब्दों से ।

डरो
जब ज़मीन के भीतर छिपाने लगे लोग अपना धन,
जब लोग अपने शरीर के ही वैभव को
एक मात्र वैभव मानने लगें,

जब लोग भीड़ बनने लग जायें,

जब लोग भूल जायें सब ज्ञान
और खुशी-खुशी से चिर अर्जित ज्ञान का विनाश कर दें,

जब आसान हो जाता हो धमकियों को अमल में लाना,
जब कुछ भी न बचे जिस पर लिखा जा सके
पूर्व प्राप्त ज्ञान,

जब कागज़ पर अंकित न हो पायें शब्द
और शब्द हो जायें निर्भय, निष्ठुर !

ओ मेरे पड़ोसियो, तुम्हारे जीवन का ढांचा ठीक नहीं,
तुम सब भटक गये हो ।
आज से आगे कहीं भी नहीं है कोई रहस्य,
अपने दुर्भाग्य को लेकर तुम चल देते हो
दुनिया को जीतने ।
तुम्हारे पागल खाने में कुरूप से भी कुरूप को
आदर्श रूप की संज्ञा दी जाती है ।

ओ नाचते हुए लघु चालाक लोगों,
तुम क्या सचमुच तैयार हो अपने को
नृत्य में पूरी तरह डुबोने के लिए !

पावन संकेत

हमें नहीं मालूम पर वे जानते हैं
पत्थर जानते हैं यहां तक की पेड़ भी
और याद रखते हैं उन्हें
जिन्होंने नाम दिये पहाड़ों और नदियों को ।

जिन्होंने बनाए अतीत के शहर
जिन्होंने नाम दिये अविस्मरणीय देशों के।

ज्ञानातीत हैं हमारे लिए शब्द
वे सब भरे पड़े हैं अर्थवैभव से।
यहां का इतिहास भरा पड़ा है बड़े-बड़े कारनामों से।
हर जगह अंकित है वीर पुरुषों का इतिहास।
'जानना' शब्द माधुर्य से भरा है
और 'याद रखना' भय से पूर्ण।
जानना और याद रखना। याद रखना और जानना।

अर्थात् — विश्वास करना
कि कभी वायुयान उड़ा करते थे
कि बरसी है घनी आग। कि चमकी हैं
जीवन और मृत्यु की चिंगारियां।

पत्थरों के ढेरों में हरकत आयी है
आत्मा की ताकत से जिसे बचाकर
रखते आये हैं ऋषि-मुनि अक्षरों के रहस्यों में।

और सब कुछ पुनः स्पष्ट हो गया है,
सब कुछ नया लग रहा है,
जीवित हो उठी हैं दन्त कथायें
और हम पुनः जीने लगे हैं
और पुनः बदलने लगे हैं
और पुनः मिट्टी के नजदीक आने लगे हैं।

महान 'आज' निष्प्रभ पड़ जायेगा कल।
पर प्रकट होंगे पावन संकेत।
तब जब उनकी जरुरत होगी उन्हें देख नहीं पायेंगे
किसे मालूम ? पर जीवन उन्हीं से निर्मित होता है
कहां हैं वे पावन संकेत ?

छोटा-सा पत्थर

□ वि० स० खाण्डेकर

कितना रमणीय स्थान था वह ! नीचे कल कल वहने वाली नहर तो ऊपर घना जंगल ! इतना होकर भी उस चट्टान की पूजा बांधने की किसी को इच्छा नहीं हुई। देखा जाए तो ठीक ही तो था। छोटे बच्चे देवता समान होते हैं न ! वैसे ही छोटा-सा पत्थर भी। पर इतना बड़ा पत्थर देवता कैसे कहलाएगा ?

आखिर चट्टान को एक तरकीब सूझी। बड़प्पन खेत की मूली थोड़े है ? उसने अपने शरीर का टुकड़ा तोड़ा। अपनी सारी यातनाओं को जब्त करते उसने इच्छा व्यक्त की कि 'यह छोटा-सा पत्थर देवता बने।' फिर मुझमें अपने आप देवत्व आयेगा।

वह छोटा सा पत्थर उसने नीचे वहने वाली नहर में फेंका। हमेशा पानी के साथ बहते-बहते वह चमकने लगा। एक दिन दोपहर के समय एक यात्री वहां आया। नहर में स्नान करने लगा था कि उसे पानी में एक चमकती हुई चीज़ नज़र आयी। छोटा-सा चमकीला पत्थर था वह ! समय गुज़ारने के लिए वहां साधन ही क्या था ? उसने उसे उठा कर किनारे रखा और रान फूलों से उसकी पूजा की।

इत्तफाक ! जैसे ही यात्री वहां से गुज़रा, शिकार के लिए भटकने वाला राजा वहां आ पहुंचा। राजा थका तो था ही, साथ-ही-साथ शिकार न मिलने से हतोत्साहित भी हुआ था। रमणीय स्थान देख कर वह प्रसन्न हो उठा। मन में सोचता रहा, ईश्वर की लीला अगाध है। धन्य है !

इतने में उसे फूलों ढका वह चमकीला पत्थर दिखाई दिया। मुस्करा कर बोला, 'इतनी सुन्दर सृष्टि का निर्माण करने वाले देवता स्वयं खुली धूप में !'

राजा ने चारों तरफ नज़र दौड़ाई। झरने के दूसरे किनारे पर एक हिरन था। उसने निशाना लगाया। 'इसी देवता की वजह से शिकार मिल पाया मुझे !' –कहते हुए उसने छोटे-से पत्थर को प्रमाण किया। स्पष्ट था कि देवता बड़ा प्रभावकारी रहा। ऐसे प्रभावकारी ईश्वर पर कोई छत नहीं ? राजा के मन में इच्छा होने की देरी थी कि मन्दिर के मन्दिर बन गये।

थोड़े ही दिनों में उस छोटे-से पत्थर की पुनर्स्थापना संगमरमर के मन्दिर में की गई। भक्तों का तांता सा लग गया। कोई दर्शन के लिए आते, तो कोई मनौती मनाने। मन्दिर में श्रीफल की श्रीवृद्धि होती रही। पुजारी सामने वाले विशालकाय पत्थर पर श्रीफल फोड़ने लगा। बेचारे उस पत्थर की पीठ पीड़ा से हर रोज़ परेशान रहती।

एक दिन वह ईश्वर से बोला, 'प्रसाद तुम खाते हो और पीड़ा मुझे देते हो।'

उपेक्षा से ईश्वर ने कहा, 'आखिर तुम जैसे भीमकाय पत्थर का दूसरा लाभ ही क्या है?'

उस चट्टान को बड़ा क्रोध आया। पर उसे जब्त कर कहा, 'हे ईश्वर, तुम मुझे अपनी तरह देवता बना दो। यह हर दिन की पिटाई तो कम होगी।'

ईश्वर ने देर तक सोचा। 'सामने वाले पत्थर को ही यदि देवता घोषित किया जाय तो—पर उससे तो लोगों की भीड़ वहीं होती रहेगी। लोग सोचेंगे मन्दिर का ईश्वर छोटा है। पर सामने वाला ईश्वर तो महादेव का अवतार है—फिर तो कोई भी मेरी ओर नहीं झांकेगा, और मन्दिर के छत का भी क्या भरोसा?

देवता को मौन पाकर चट्टान ने कहा, 'छोटे! देवता बनने पर भ्रम हो आया है तुम्हें! अरे, नहीं जानते कि तुम मेरे ही अंग हो। तुम्हें मैंने इसी लिए झरने में फेंका था, ताकि तुममें देवत्व आ जाए। यदि न फेंका होता तो...?

'चुप रहो चट्टान के चेले!' देवता गरज पड़े। 'कहां देवत्व और कहां पहाड़ीपन! मैं छोटा पत्थर थोड़े ही हूं। बड़ा देवता हूं मैं! परम ईश्वर। तेरा मेरा रिश्ता ही क्या है? मैं स्वर्ग के सिंहासन का सम्राट और तुम धूल झोंकने वाले मामूली पत्थर!'

रात के समय मन्दिर में आरती शुरु हुई।

भक्त ईश्वर को सुला रहा था—आखिर सो गया वह!

चट्टान को नींद नहीं आयी। उसके अन्दर ही अन्दर छटपटाहट रही।

सुबह के समय मन्दिर के दहलने का भ्रम हुआ। भक्त भागने लगे। पुजारी डरने लगे। भागते समय आभूषण लेने नहीं भूले वे!

ईश्वर डर से चिल्लाने लगा, 'चट्टान दादा, दादा जी!' वह उपेक्षा से हंसा।

भूकंप से मन्दिर के तितर-बितर होने की बात सर्वत्र फैल गयी। भक्त ईश्वर को खोजने वापस आये। देखते क्या हैं? सामने वाली चट्टान के ज़र्रे बने थे। और ईश्वर? हजारों छोटे कंकड़ पत्थरों में पड़े उस छोटे से पत्थर को कोई पहचान नहीं पाया। ●

मूल मराठी से अनुवाद : डा० सुनील कुमार लवटे

समीक्षा

रोशनी की आंखों में दो कवि

□ तुलसी रमण

"अब मैं नवोदित पीढ़ी के उन कवियों का ज़िक्र करना अपना दायित्व समझता हूं जिनका रचनात्मक क्षेत्र में उदय ६५ के बाद हुआ और जिन पर आने वाले कल की कविता का दायित्व है। इनमें— अरविन्द रंचन,...केशव, ...रेखा,...देवेन्द्र खांडेलवाल...कुमार कृष्ण और...उमेश पंत के नाम गिनाए जा सकते हैं।" लगभग एक दशक पूर्व 'हिमाचल के हिन्दी कवि' शीर्षक से एक लेख में व्यक्त कवि श्रीनिवास श्रीकांत का यह दायित्व बोध आज फलित हुआ लगता है, जबकि उक्त कवियों में से अधिकांश को आज इधर के कविता मंच पर ठीक प्रकाशवृत्त में पाया जाता है। यह बात इस दृष्टि से भी सार्थक हो जाती है कि श्रीनिवास श्रीकांत ने उसी लेख में "समय की अस्तित्व परक चुनौती को पूरी प्रतिबद्धता, जीवट और दायित्व बोध के साथ बौद्धिक और रचनात्मक स्तर पर स्वीकारते हुए और दैनन्दिनीय जीवन में भी उससे जुड़े हुए" जिन कवियों का ज़िक्र तत्कालीन युवापीढ़ी के प्रमुख कवियों के रूप में किया है, वे सृजन की दौड़ में इस कदर पिछड़ गये हैं कि छुटपुट रचनाओं को छोड़कर इनमें से अधिकांश पूरी ईमानदारी के साथ स्वीकारने लगे हैं कि 'अब लिखा नहीं जाता भाई।' और कुछ अपनी सक्रियता बनाए रखने की ज़िद्दोजहद में वही अपने दौर का एक तरह से बासा परोस रहे हैं। हर पीढ़ी का अपना एक खास दौर होता है, लेकिन सृजनात्मक क्षमता रखने वाली एक पूरी पीढ़ी का अपने युवाकाल में ही रचनात्मक स्तर पर पॉरालाइज़ हो जाना इधर की कविता के लिए दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जा सकता है। यदि यह सब 'दैनन्दिनीय जीवन' में अपनी सारी प्रतिबद्धता और दायित्वबोध को केन्द्रित कर देने के फलस्वरूप हुआ है तो इसे विडम्बना ही कहूंगा, क्योंकि सृजनशील प्रतिभा का जीवन, उसका केन्द्रीय राग, उसकी सृजनात्मकता में ही देखा जा सकता है।

श्रीनिवास श्रीकांत ने कवियों की नवोदित पंक्ति पर कविता के दायित्व की जो पिचकारी छोड़ी थी, उसका रंग निःसंदेह पक्का होने लगा है। यह पीढ़ी

अपने सशक्त युवा कंधों पर इस दायित्व को ढोने के लिए जिस कदर सामने आयी है इसे सुखद कहा जाना चाहिए। कवियों की इस अग्रगामी पंक्ति से भी भले ही कुछ नाम पीछे छूट गये हैं लेकिन निश्चय ही कुछ नये नाम भी आ जुड़े हैं और इससे पूर्ववर्ती पीढ़ी में श्रीनिवास श्रीकांत ने 'इत्यादि' के अन्तर्गत उक्त लेख में बीस के लगभग जो नाम गिनए हैं उनमें से अमिताभ, अवतार एनगिल, महाराज कृष्ण काव और आनन्द आदि कुछ कवि आज भी उसी फॉर्म के साथ रचना में सक्रिय हैं। इस तरह इधर कविता की 'गंधों के कलश' (श्रीनिवास श्रीकांत) एक अंधेरी सुरंग से गुजर कर (केशव) ठीक प्रकाशवृत्त में खड़ी कवियों की इस पंक्ति के हाथों में देखे जा सकते हैं। इसी पीढ़ी के दो कवियों केशव तथा कुमार कृष्ण की सद्य प्रकाशित पुस्तकों के आधार पर उनकी कविता को लेकर यहां बात करनी है।

सातवें दशक के उत्तरार्ध से कविता लिख रहे केशव को हिमाचल का अब तक सर्वाधिक प्रकाशित कवि कह सकते हैं। किसी भी कवि का अधिक प्रकाशित होना भले ही उसके बेहतर होने की गारंटी न हो लेकिन सृजन में उसकी सक्रियता का द्योतक तो माना ही जाना चाहिए। केशव के 'रोशनी की आंखों में' इस चौथे कविता संग्रह में उसकी लगभग डेढ़ दशक की कविता यात्रा की चुनी हुई रचनाएं दी गयी हैं। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि 'शहर का दुःख' 'अलगाव' और 'एक सूनी यात्रा' की चुनी हुई कविताएं 'रोशनी की आंखों में' प्रस्तुत की गयी हैं।

कवि अवधेश कुमार के शब्दों में —'केशव की कविताओं का असर मेंहदी की तरह है कि जो पढ़े जाने के थोड़ी देर बाद रचना शुरु होता है और एक लम्बे समय तक गहराया रहता है। भावना और विचार की तीव्रता और शिल्प की एकाग्रता के कारण केशव की कविता आज की युवा कविता का एक अलग और विशिष्ट स्वर बनने की पूरी सामर्थ्य रखती है।"

जीवन की विसंगतियों और विडम्बनाओं को बेरहमी से जांचते हुए भी, केशव का कवि कोई निर्णय लेने के लिए उतावला नहीं दिखता। बल्कि अपने अनुभवों की सघनता के बल पर पीड़ा को पूरे संयम के साथ कविता में विस्तार देता है। उसकी अपनी मान्यता भी यही है — "पीड़ा की भूमि पर उगाता हूं/ फूल, वृक्ष, लताएं/ सींचकर संचित अनुभवों से......।"

इन अनुभवों से सिंचित, केशव का रचना संसार इस संग्रह में एक तरह से तीन हिस्सों में बांटा गया है। पहले भाग की अधिकांश कविताएं व्यवस्था की साजिश को समझते हुए समाज के उस शोषित-पीड़ित आदमी को

सम्बोधित करती हैं जिसकी नियति क्रूर व्यवस्था का शिकार होना ही है।

एक ओर झूठे आश्वासनों के छिद्रों भरे तम्बू सिर दर तानती व्यवस्था है और दूसरी ओर व्यवस्था रूपी जंगल की भाषा न समझ पाता शोषण का शिकार साधारण आदमी। कवि अपने समय और परिवेश की इस घिनौनी तस्वीर का बिम्ब कविता के आइने में ईमानदारी से उतार देता है। जाहिर है कवि की हमदर्दी राजनीति की मौकापरस्ती और कुर्सी की दौड़ में पिसते उन शोषित लोगों के साथ है जिनकी नियति को समझते हुए वह कहता है— "ऐन वक्त पर फैंक देते हैं वे/तुम्हारे सामने ठंडे गोश्त सा उमीद का टुकड़ा/जिसे झपटकर चबाने लगते हो तुम।"

इस युगस्थिति से गुज़रते हुए कवि को भविष्य हथेलियों पर पारे सा पड़ा नजर आता है और ज़िंदगी अंधेरे में छटपटाती एक चीख। भविष्य की चिन्ता की आग सेंकता हुआ कवि शोषित पीड़ित जनगण के प्रति सघन हमदर्दी संजोए क्रूर व्यवस्था के प्रति एक तरह का विरोध व नकार लेकर चलता है और अन्ततः दिशा बोध के साथ मुखर हो उठता है—"जब तक सच्चाई नहीं बदलेगी/मशाल में/और भूख तलवार में/मनी प्लांट उनके ही ड्राईंग रूम में/बढ़ता रहेगा।"

इस दिशा बोध के साथ ही कवि सृजन की उत्कटता में एक संकल्प के साथ और अधिक खुलता गया है और यही उसके खुलते चले जाने की दिशा भी है।

दूसरे भाग की कविताओं में युग स्थितियों से गुज़रती, टूटती, अकेली हो जाती जिंदगी का अवसाद और सूनापन भीतर से बाहर की ओर मुखर हुआ है। इसे केशव की कविता की मुख्य भावभूमि भी माना जाता रहा है। यह वह स्थिति है जब —"आदमी की जगह सिर्फ चेहरे दिखाई देते हैं/हर खिड़की खुलती है/गहन अंधकार में/हर द्वार के सामने फूटती है/सूनी अकेली पगडण्डी/और आदमी पांचवे टावर-सा पड़ा रहता है।" ऐसी कविताओं में जहां एक ओर सातवें दशक की कविता की तरह, युगस्थितियों के मारे आदमी की टूटन, अलगाव व अकेलेपन का अंधकार है, वहीं दूसरी ओर कुछ बहिरुन्मुख सी उत्तेजना, तनाव और छटपटहट भी है। जो इस अंधकार में रोशनी की मीनार बनने के लिए उद्यत होती है। आखिर कवि मौत के द्वार पर, बार-बार झांकते हुए भी पाता है कि यह भी कोई अन्त नहीं; और जिंदा रहने के लिए रोशनी की मीनार कुछ यों बन जाती है—"सच

दोस्त/पुल पर से किसी को गिरते देख/अगर देख सके हो तुम भी/अपना गिरना/तो ज़िंदा रहने के लिए/काफी है इतना ही आधार···।"

कवि के अकेले और सूनेपन की यह पीड़ा निजी होते हुए भी, व्यापक सामाजिक सरोकारों में विस्तार पाती है।

इस संग्रह के तीसरे भाग की कविताएं सृजन के क्षणों और प्रेम की कोमल अनुभूतियों को संजोए हुए हैं। आज जबकि कविता में लगातार झाड़-झंखाड़ उगते जा रहे हैं वस्तु और भाव जगत् की सुन्दरता का काफी कुछ नष्ट हो रहा है। प्रेम को लेकर लिखना भावुकता या कमज़ोरी मान लिया जाता है, ऐसे समय में भी केशव लगातार प्रेम कविताएं लिख रहा है -- शायद यही मानकर कि किसी भी क्रांति की ज़मीन में प्रेम की शाश्वता अकाट्य है। इन कविताओं में ज़िंदगी के कोमल क्षणों के स्पर्श के साथ पीड़ा में भी एक दूसरे को पाने की ललक और साथ-साथ चलने की उत्कट इच्छा देखी जा सकती है — "कभी कभी बहुत लगता है/कोई कहीं से आए/बूंद बूंद स्पर्शों को पीता रहूं/ बस जीता रहूं ...।"

आदमी और आदमी के बीच के सेतुओं को आकार देता कवि सूक्ष्म अभिप्रायों वाले बिम्बों का मोहक सिलसिला पेश करता है।

केशव की कविता में डॉ प्रभाकर श्रोत्रिय ने अपनी पूरी स्थानीयता के साथ पहाड़, उसकी जिंदगी, उसके संघर्ष, नियति और कुल मिलाकर यहां की प्रकृति – पूरे संसार के समा जाने की सही अपेक्षा की है। अपनी कहानियों की तरह कविता में भी केशव का इस ओर मुड़ना सुखद होगा। निःसन्देह यह एक ऐसा पक्ष है जिसका अभाव दूर होने पर, उसकी कविता के आयाम का विस्तार होने के साथ वह अपनी ज़मीन में और और गहरे उतरकर कविता में अपनी पहचान दे सकेगा।

आज की कविता अधिकांश मध्यवर्गीय कवियों की कविता है। आधुनिकता-बोध के नाम पर शहरियत को बुलंद करने वाली यह कविता अपने लिए एक तरह का आडम्बर रचने में सफल हुई है। बावजूद इसके जो कवि गंवई जनता के बीच से आए हैं और जन-गण से जुड़ने की हामी भरते हैं उनमें से भी कुछ शहरियत की गिरफ्त में आ गये हैं और कुछ वादों या विचारों की संकीर्णताओं में घुसकर कविता के बुनियादी स्वभाव से ही विमुख हो जाते हैं।

कविता के इस दौर में भी युवा कवि कुमार कृष्ण के पहले कविता संग्रह "डरी हुई ज़मीन" की कविताएं पहाड़ों के बीच अलग-थलग पड़े ऐसे गंवई जीवन से जुड़ी हैं जिसका दर्द शहरी कोठरियों में कैद रहता है। गांव की नियति को गिरवी रखने वाले विलायती प्रेतों के शहर (शिमला) की नीयत को बांचने के लिए कुमार कृष्ण एक ओर जहां शहर तक पहुंचा है वहीं दूसरी ओर अपने पुरखों के गांव से उसके पैर कतई नहीं उखड़े। कवि की सारी चिंताएं साल-दर-साल विकास के बोल-बाले में, अंधविश्वासों से घिरी और बैल की तरह लगातार मुशक्कत के लिए जुती ग्रामीण ज़िंदगी से प्रतिबद्ध हैं— "उखड़े नहीं अब तक/खेत में लगाए/दादा के ओड्डे/कामयाब रहा चाहे/बरसाती पानी/मेंढ़ तोड़ने में हर साल।"

पहाड़ी जीवन के एक लम्बे संघर्ष को अलग-अलग किनारों से पकड़ने वाली इस संग्रह की सारी कविताएं एक बड़ी कविता के ही विभिन्न स्पंदन हैं। एक ही ज़मीन की इन धड़कनों में एक के बाद एक दुहराव देखे जा सकते हैं। लेकिन अपने अंचल के तमाम भौगोलिक परिवेश को लोक-संस्कृति की भावभीनी स्थितयों के साथ, यहां के कठिन जीवन की विसंगतियों, शोषण और दमन जन्य भय को उद्घाटित करने में ये कविताएं कुछ हद तक सफल हुई हैं।

इन कविताओं में भीतर ही भीतर एक तरह का लावा उमड़ रहा है, जो ज़मीन की ऊपरी ठंडी या डरी हुई सतह को तोड़ कर ज्वालामुखी के रूप में फूटने को उद्यत लगता है, और तभी—"जिन्दा रहने के लिए/मांगती है/ज़मीन/पूरा आकाश।"

ज़मीन की संस्कारगत ठंडक से उबरने की जिद्दोजहद और उसके अन्तर्विघटन से हुए इस बदलाव को कवि ने पहचाना है—"किसी पुराने देवता के/बीमार वृक्ष के नीचे/खंडहर के काले पत्थरों के बीच/बूढ़ी बांबियों में/है सांप का विष/पहले से और अधिक गर्म।"

ऐसा लगता है कि इन कविताओं को लिखते हुए कुमार कृष्ण की स्मृति में कुछ पढ़े हुए कवियों की कविताएं रही हैं। धूमिल को कुछ कवितओं में उद्धृत करना इसका प्रमाण भी कहा जा सकता है। जनता के चरित्र को समझने के लिए धूमिल, जगूड़ी, केदार नाथ सिंह और देवताले जैसे कवियों की लीक पर चलकर कुमार कृष्ण का कवि अपने अनुभवों के बल पर पहचान बनाने की जिद्दोजहद में है। कविता के बीच में कहीं ऐसी पंक्तियां मुखर हो उठती हैं जहां अपने परिवेश की घनीभूत संवेदना के साथ कवि अधिक प्रभाव बना पाता है, और

इस बीच कुछ ऐसी पंक्तियां उस प्रभाव को क्षीण कर देती हैं जिनमें शब्दों के हेर-फेर को छोड़कर कथ्य व संवेदना का बिन्दु लगभग सीधे-सीधे किसी पढ़े हुए कवि की कविता से जुड़ जाता है। यही कुमार कृष्ण की कविता का अंधेरा पक्ष भी है।

अपने परिवेश को लेकर पेड़ और पशु के साथ मनुष्य के संम्बधों तथा रूढ़ियों में जकड़े जीवन के रहस्य को उद्घाटित करते हुए इन कविताओं में — पुराने देवता का वृक्ष, खच्चरों के घुंघरूओं का संगीत, मवेशियों की बोली, बैल की अक्ल, पसीने की गंध, छालों का पानी, खंडहर बावड़ी, बर्फीला मौसम, बर्फ की चट्टान और पानी के पत्थर जैसे प्रयोग ज़मीन की असलियत को दर्शाते हैं।

कुमार कृष्ण की कविता की ज़मीन जिस भय से आक्रांत है वह निःसन्देह रजवाड़ाशाही के आतंक ग्रस्त संस्कारों से निकलकर इधर अनेक विध स्वार्थी शिकंजों में फंसने की विडंबना ही है। जनता और जनतन्त्र से गुजरते हुए जहां धूमिल दाहिने हाथ के खिलाफ होकर, दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश में —"तनो/अकड़ो/जड़ पकड़ो/बदलो/यह दुनिया, बदल रही है" ... कहते हैं वहां कुमार कृष्ण का कवि उनसे अलग होकर सूरज की आग के अर्थ बदलने की स्थिति को समझते हुए भी, अपनी इस ज़मीन पर पसीने की गन्ध फैलाने और मात्र सूरज के आठवें घोड़े की तलाश करने की सलाह देकर ही संतुष्ट हो जाता है। संभवतः सूरज का पूरा रथ बदल डालने की सोच बनाने से पहले ही कवि ने मान लिया हो कि इधर सारे रथ एक ही कम्पनी के अलग-अलग मॉडल हैं।

कुमार कृष्ण ने कुछ कविताओं में फैंटेसी के माध्यम से भी वस्तुगत यथार्थ का चित्रण किया है और आधुनिक भावबोध में पुरानी बात कही है। जीवन की पीड़ा को 'वाच्य' और 'व्यंग्य' दोनों धरातलों पर एक साथ कह सकने की खासियत के साथ कुछ नितांत वैयक्तिक और दुर्बोध प्रतीकों का इस्तेमाल भी हुआ है। कथन में स्थानीय मुहावरे और व्यंग्य की देहाती पैंठ की परिपक्वता के साथ कुमार कृष्ण की कविता का अगला पड़ाव और अधिक सशक्त हो सकेगा। ●

पुस्तकें

- **रोशनी की आंखों में :** केशव, पराग प्रकाशन, ३/११४ कर्णगली, विश्वास नगर शाहदरा दिल्ली- ३२, मूल्य २७ रुपये
- **डरी हुई ज़मीन :** कुमार कृष्ण, प्रमा प्राकशन, शास्त्री भवन शांकली, शिमला- ३ मूल्य २४ रुपये

अरविन्द रंचन और रेखा की कविता पर आगामी अंक में

नरेन्द्र चौहान के तीन नाट्य संग्रह

□ डॉ० हेम राज कौशिक

नरेन्द्र चौहान के नाटकों में अनिच्छित स्थितियों के प्रति आक्रोश का स्वर है। उनका यह आक्रोश कहीं वर्तमान सामाजिक व्यवस्था की विवेकहीन रीति-नीतियों को लेकर है तो कहीं सामाजिक जीवन में प्रत्येक स्तर पर व्याप्त भ्रष्टाचार के कारण। इसके मूल में कहीं पद लोलुप स्वार्थ-प्रेरित नेतृत्व और नौकरशाही की मनमानी है तो कहीं पूंजीपतियों का अनधिकृत हस्तक्षेप एवं शोषण। इस शोषण की चक्की में पिसने वाला एक ही वर्ग है—उसे मार्क्सवादी शब्दावली में कहना चाहें तो सर्वहारा वर्ग अथवा आम आदमी कहा जा सकता है। उस आम आदमी की जिन्दगी की विडम्बना और त्रासदी नरेन्द्र चौहान के तीनों नाटय संग्रहों में देखी जा सकती है। 'आखिर कब तक' नाट्य संग्रह में दो नाटक संगृहीत हैं। 'आखिर कब तक' नाटक में नाटककार ने स्वातन्त्रयोत्तर भारत के नेताओं, मन्त्रियों प्रशासन को चलाने वाले अधिकारियों की बुराइयों को सामने लाया है। मन्त्री, जज, सैक्रेटरी, बाबू, चपरासी सभी उस आदमी का शोषण कर रहे हैं जो अपनी मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने में दिन-रात कठोर परिश्रम कर रहा है। उस आम आदमी में जहां करमु और देवी जैसे चरित्र हैं जो खेत खलिहान में जी तोड़ मेहनत करने पर भी दो समय का भोजन प्राप्त नहीं कर पाते। वहां ऐसे बूढ़ा और बूढ़ी भी हैं जिन्हें भिक्षा वृत्ति करने के लिए 'अनामी' द्वारा विवश किया जाता है। उस साधु सन्यासी कहलाने वाले बदमाश के जाल में पड़ कर उनका जहां आर्थिक शोषण किया जाता है वहां वह उनके रक्त की एक-एक बूंद को चूस लेना चाहता है। आर्थिक शोषण के कारण बूढ़ा जगु और करमु बीमार पड़ते हैं। वे गांव छोड़ कर नगर में आते हैं। नगर में आकर वे वहां के घूसशील जीवन, संत्रास और बेगानेपन को अनुभव करते हैं। हस्पताल में डाक्टरों की लापरवाही से वे तीनों मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनके सम्बधी डाक्टर को दोषी न ठहराकर उसे भाग्य का विधान मानने के लिए विवश होते हैं। नाटककार व्यंग्य के धरातल पर यह सवाल उठाता है 'आखिर कब तक' यहां ऐसा होता रहेगा ?

इस नाट्य संग्रह में नरेन्द्र चौहान का एक लघु नाटक "और लहरें उठती रहीं" संगृहीत है। इसमें आज के टूटते-बिखरते सम्बन्धों को जिन्दगी और मौत से जूझते हस्पताल में दाखिल अशोक, अम्मा, पूजा, डाक्टर, बीबी जैसे रोगियों के सन्दर्भ में उद्घाटित किया है। भावनाओं के घात-प्रतिघात से क्षतविक्षत इन चरित्रों की आन्तरिक स्थितियों को भी नाटककार ने सामने लाया है।

उनका दूसरा नाट्य संग्रह "मैं जलती ही रही" है। इस में 'मैं जलती ही रही' नाटक 'फ्लैश बैक स्टाइल' में प्रारम्भ होता है। नाटक का समारम्भ न्यायालय के दृश्य से होता है जिसमें मास्टर और ज्योति को मंत्री की हत्या के अपराध में फांसी की सजा सुनाई जाती है। नाटक का कथ्य यहां से मास्टर और ज्योति के विगत की ओर लौटता है। फांसी की रात्रि में उनके चिंतन-क्षणों और स्वप्नों के द्वारा नाटककार विभिन्न दृश्यों के विधान द्वारा उनके सम्पूर्ण जीवन का प्रत्यावलोकन करवाता है। सम्पूर्ण नाटक की संवेदना जड़ मूल्यों से लिपटे स्वार्थी समाज की मानसिकता को दर्शाती है। पुरुष सत्तात्मक समाज में नारी किस तरह का जीवन जीने के लिए अभिशप्त है इसे नाटककार ने ज्योति के चरित्र के द्वारा सामने लाया है। ज्योति सुहागरात से पूर्व ही विधवा हो जाती है। गांव के लोग उसे पुनः विवाहित नहीं देखना चाहते। उसे पशुओं की भांति 'मनहूस जिन्दगी' से उबारने वाला मास्टर भी उनका शत्रु बन जाता है। वे दोनों गांव छोड़कर जब नगर में आते हैं वहां भी शोषण से नहीं बच पाते। नाटक में बाबा सूत्रधार की भांति कथा सूत्रों को जोड़ता जाता है। आज की न्याय व्यवस्था पर भी नाटक में प्रकाश डाला गया है। इस संग्रह में संगृहीत 'ये मासूम आंसू' एक लघु नाटक है जिसमें मंच के मोटे-मोटे पर्दों के पीछे अभिनय करने वाले कलाकारों की जिन्दगी की वेदना को नरेन्द्र ने नृत्य एवं संगीत कुशल बच्चों की त्रासदी के द्वारा सामने लाया है।

उनका तीसरा नाटक 'और दौड़ो जिजीविषा' है। नाटक का कथ्य चार खण्डों में विभक्त है। इसमें समाज से तिरस्कृत विभिन्न वर्गों के लोगों की कथा है। नाटक में एक ओर पागल और कोढ़ी हैं जिनसे सभी घृणा करते हैं और जो सदैव स्नेह से वंचित हैं, दूसरी ओर निम्न मध्यवर्गीय चरित्र शकुन्तला और फौजी दम्पत्ति हैं जो कठिन परिश्रम करके भी घर बनाने के लिए सामान्य ज़रूरतें पूर्ण नहीं कर पाते। सड़क के किनारे शैड के नीचे उनका जीवन गुज़र जाता है। फौजी की जिन्दगी का मार्मिक पक्ष उस समय सामने आता है जब उसके उपचार की व्यवस्था नहीं हो पाती और वह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। नाटक में वैधव्य जीवन की समस्या को संजय की मां के संदर्भ में उठाया है। लोभी का चरित्र भी मार्मिक बन पड़ा है।

गिट्. अन्जु. संजु जैसी युवतियां क्यों भिक्षा वृत्ति अपनाने के लिए विवश हैं इसे भी नाटककार ने सामने लाया है।

रंग कर्मी नरेन्द्र के ये नाटक मंचन योग्य हैं और शिमला में इनका मंचन सफलता पूर्वक हुआ है। उन्होंने विभिन्न दृश्यों के परिवर्तन के लिए प्रतीकात्मक रंगोपकरणों और प्रकाश योजनाओं का अवलम्बन लिया है। नाटक के तीन आधारों भाषिक संप्रेषण, क्रिया व्यापार एवं दृश्य विधान की अन्वती नाटकों में दिखाई देती है। फिर भी नाटकों की कुछ सीमायें हैं। संवाद अति संक्षिप्त हैं जो उन्हें अस्वाभाविक और अव्यावहारिक बना देते हैं। शिल्प की दृष्टि से भी इन नाटकों में कोई नवीनता नहीं है। इसी कारण समकालीन नाटकों में अपनी पहचान कायम नहीं कर पाते। फिर भी निर्विवाद रूप में कहा जा सकता है कि नाटकों का सृजन रंगमंचीय स्थितियों को सामने रखकर किया गया है और सामान्य दर्शक इनसे पर्याप्त प्रभाव ग्रहण कर सकते हैं। समाज का एक बड़ा हिस्सा सामान्य दर्शकों का है उनका लाभान्वित होना इन नाटकों की महत्वपूर्ण उपलब्धि कहा जा सकता है। ●

पुस्तकें

□ १. आखिर कब तक, २. मैं जलती ही रही, ३. और दौड़ो जिजीविषा, (तीनों नाट्य संग्रह) प्रत्येक का मूल्य २० रुपये
प्रकाशक : कलामंदिर, पोस्ट बाक्स न० ३५, शिमला- १.

लेखकों से

□ प्रमाणित कर दें कि रचना मौलिक, अप्रकाशित व अप्रसारित है।

□ अपना पूरा डाक पता रचना के साथ लिख भेजें तथा रचना स्वीकृत होने के बाद पता बदलने पर हमें सूचित कर लें।

□ जिन रचनाओं के साथ पता लिखा टिकट लगा लिफाफा होता है वे अस्वीकृत होने की स्थिति में साधारण डाक से लौटा दी जाती हैं। शेष सामग्री को सुरक्षित रखने की कोई व्यवस्था नहीं।

□ प्रकाशक या लेखक समीक्षा के लिए पुस्तकों की दो दो प्रतियां भेज सकते हैं। सं०

'हिमाचल प्रदेश: इतिहास और संस्कृति,' विषय को लेकर पिछले दो-तीन दशकों से काम कर रहे मियां जी की एतत् विषयक अप्रकाशित पुस्तक के प्रमुख अंश क्रमश: यहां प्रकाशित किए जाएंगे।

प्रागैतिहासिक हिमाचल

□ मियां गोवर्धन सिंह

मानवीय इतिहास के लिए हिमालय का महत्व वर्णनीय है। बैरल[1] ने सब से पहले यह सुझाव दिया कि मध्य उषाकालीन युग के लगभग अन्त के दस लाख वर्ष पहले मानव और हिमालय एक साथ ही अस्तित्व में आये। डॉ राधा कुमुद मुकर्जी के मतानुसार आदि मानव पंजाब और शिवालिक पर्वत की ऊंची भूमि पर विकसित हुआ होगा।[2] मानव जीवन का अस्तित्व उन गोल-गोल पत्थर के टुकड़ों की प्राप्ति से प्रमाणित होता है जो शिवालिक की पहाड़ियों में प्रथम आंतरिक हिम युग और द्वितीय हिमपात युग के प्रारम्भ के समय के पाये जाते हैं।[3] शिवालिक की घाटियों में ही वृक्षों पर रहने वाले उस आदि मानव की भी हड्डियां मिली हैं जो शायद विकसित न हो सका।[4] अभी उत्तरी शिवालिक पहाड़ में आदि मानव के चिह्न प्राप्त हुये हैं जो पथराई हुई हड्डियों (फौसिल) के रूप में हैं। इस से यह अनुमान होता है कि आदि मानव यहीं उत्पन्न हुआ था।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि आदि मानव पंजाब और उसके समीप की हिमालय की पहाड़ियों में प्रथम आन्तरिक हिम युग की समाप्ति से लेकर बाद के तीन युगों और दो आन्तरिक युगों तक रहता रहा।

□

अपनी आरम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य जिन उपकरणों को उपयोग में लाता है उन्हीं के अनुसार उस युग के प्रथम इतिहास की रूपरेखा बनती है। ये उपकरण विशेषत: उनके औजारों, हथियारों, बरतनों और शव स्थानों के रूप में मिलते हैं। इस प्रकार सभ्यता के आदि युग अर्थात् सबसे पहले युग को प्राचीन पाषाण अथवा पूर्व प्रस्तर युग कहते हैं। उस के बाद नया पाषाण युग आता है। इन युगों के उपरान्त विकास की अवस्थाएं शनैः-शनैः अप्रत्यक्ष भेदों के साथ बदलती गयी। इन बदलती

अवस्थाओं में ताम्र, कांसे और लोहे का प्रयोग होता है। अन्य देशों की भान्ति भारत में भी ये युग अपने क्रम के साथ बीते। इस प्रकार आदि मानव की सभ्यता को चार अवस्थाओं में बांटा गया।

शिवालिक तथा हिमालय की पहाड़ियों में पाषाण युग के बहुत से अवशेष प्राप्त हुए हैं। शिमला की पहाड़ियों के आंचल में स्थित नालागढ़ में श्री ओलाफ प्रूफर ने १९५१ में सतलुज की सहायक नदी सिरसा के दायीं ओर के भाग में हिमालयोत्तर स्थानों का पता लगाया।[6] वहां पर मध्य और ऊपर के स्तरों में रंगीन पत्थरों के औज़ार मिले हैं। इन औज़ारों में गोल पत्थर के औज़ार अधिक सुदृढ़ हैं। पत्थरों के औज़ार नदी तट के गोल पत्थरों के बनाए हुए हैं और इनमें अधिकतर खुरपे आदि लकड़ी काटने के औज़ारों की आकृति के हैं।

१९५५ ई० में श्री ब्रजवासी लाल ने जिला कांगड़ा में ब्यास और वाण गंगा की तलहटियों में 'सोहन' किस्म के उपकरणों का पता लगाया।[7] उन्होंने गुलेर हरिपुर और ऐसे ही पांच अन्य स्थान देखें। गुलेर, देहरा, घलियारा तथा कांगड़ा से ७२ नमूने प्राप्त हुये हैं। ये उपकरण गोल पत्थर के हैं और पत्थर की कुल्हाड़ी और लकड़ी काटने के पत्थरों के उपकरणों की आकृति के हैं। उन में केवल दो पत्थर की हथ-कुठारें ऐसी थी जो मद्रास में प्राप्त कुठारों के आकार प्रकार की थीं। एक ओर चापर (कटाई के गंडासे) उपकरण और दूसरी ओर द्विपृष्ठी हथ-कुठारें और मुष्ठि-छुरे स्पष्ट रूप से दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं की ओर इंगित करते हैं। सम्भवतः उनके बनाने वाले लोग दो अलग-अलग जातियों के रहे हों। ऐसा हो सकता है कि चापर (कटाई के गंडासे) जैसे उपकरण संस्कृति के आरम्भिक चरण के हों और हथ-कुठारें और मुष्ठि-छुरे उस के बाद का विकास हो। यह सब उपकरण आदि सहोन किस्म के उपकरणों जैसे हैं।

इसी प्रकार ज़िला कांगड़ा में आदि- मानव की खोज करते समय डॉ० जी० सी० महोपात्रा ने उत्तर पाषाण काल के ५०० से अधिक अवशेष ढूंढे।[8] इन अवशेषों में अधिकांश उत्तर पाषाण कालीन कुठार, चकमक की कुतरनों के उपकरण आदि मिले हैं। इससे स्पष्ट है कि ब्यास घाटी के समतल टीलों में तीनों पाषाण काल औद्योगिक विकास के साथ क्रमानुसार बीते। इसी प्रकार श्री कृष्णस्वामी तथा अमलेन्दु गुहा को भी सतलुज के बिलासपुर क्षेत्र[9] में खोज करते समय ऐसे ही उपकरण प्राप्त हुये। इनमें कच्चे गंडासे

और भारी प्रकारों की तेज़ धार वाली पत्थर की पपड़ियां थीं। अभी थोड़े समय पूर्व भारतीय पुरातत्व विभाग ने जम्मू प्रान्त में कथुआ के पास रावी नदी की घाटी में कुरो, पिनवानी, तार्रा, माइ, और जगतपुर में उत्तर पाषाण कालीन सांस्कृतिक स्थलों का पता लगाया है। वहां पर उन्हें पत्थर की गुटियों से बनाये हुये उपकरण मिले, जिन्हें वे लोग जानवरों की खाल निकालने, उनका मांस काटने और हड्डियों आदि को तोड़ने के लिए प्रयोग में लाते होंगे।[10] इस भू-भाग के आदि मानव ने ६,००,००० वर्ष से लेकर ६००० वर्ष पूर्व तक किस प्रकार अपना जीवन यापन तथा भौतिक विकास किया, इन अवशेषों से यह भी पता चलता है। पाषाण युग के बाद उत्तर भारत में ताम्रयुग का आविर्भाव हुआ। इस युग में आज से लगभग ५००० वर्ष पूर्व सिन्धु नदी से लेकर हिमालय की तराई तक अभूतपूर्व उन्नति हुई।[11] जिस के सबसे अधिक अवशेष मोहनजोदड़ो, हड़प्पा और शिमला की पहाड़ियों के आंचल में बसे रोपड़ के पास मिलते हैं।

रोपड़ में ताम्र युग से भी प्राचीनतम अर्थात् नवपाषाण युग की सभ्यता के प्रमाण पाये गये हैं। अनेक चट्टानों के स्तर से ऐसा प्रतीत होता है कि कुल छः सांस्कृतिक काल हुए। इन में से पहले दो आद्य ऐतिहासिक काल में हुए। प्रथम काल हड़प्पा तथा उससे व्युत्पन्न संस्कृति काल था। इसे दो भागों में बांटा गया है। नीचे के स्तरों में परिपक्व हड़प्पा संस्कृति के अन्तिम काल के अवशेष पाये जाते हैं। और ऊपर के स्तरों में मृच्छिल्प परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। कोला निहग के अवशेषों से ऐसा प्रतीत होता है कि यहां हड़प्पा लोग रोपड़ की निस्बत पहले आकर बसे थे।[12] यहां से वे लोग शिवालिक की पहाड़ियों के आंचल से होते हुए सरस्वती-यमुना नदियों की ओर बढ़े जिस का पता इस भाग में मिले भूरे रंग के मिट्टी के चित्रित बरतनों से लगता है। अतः इस का विस्तार प्रायः सारे उत्तरी भारत तथा हिमालय की निचली पहाड़ियों में पाया जाता है। दूसरे वनस्पति विज्ञान शास्त्रियों के मतानुसार, जिन्हें वनस्पति विकास शास्त्री भी कहते हैं, गेहूं सब से पहले हिमालय और हिन्दुकुश की तलहटी में पंजाब के किसी स्थान पर उगा।[13] इस प्रकार सभ्यता का श्रीगणेश उस स्थान पर हुआ और वहीं से पश्चिम की ओर फैल गया, जहां से पहले अन्न उपजने लगा और पशु पाले जाने लगे।

यह आदि मानव कौन थे, इसका पता उन अस्थि पिंजरों से लगता है जो मोहनजोदड़ो, रोपड़, स्यालकोट, चण्डीगढ़ आदि स्थानों में खुदाई करने पर

प्राप्त हुये हैं ।[14] यह पिंजर आदिम आग्नेय कुल या निषाद वंशी, मंगोल-किरात, भूमध्यसागरीय कुल और पर्वत प्रदेशीय नामक चार नसलों के थे। इस सभ्यता के निर्माताओं को द्रविड़, आहुई, समेरीयन, पणि, असुर, व्रात्य, दास, नाग, यक्ष अथवा किन्नर-किरात आदि जातियों के होने की अनेक कल्पनाएँ की गई हैं। सिन्धु तथा हड़प्पा सभ्यता पूर्व में सरस्वती नदी के ऊपरी भाग और उत्तर में सतलुज-व्यास नदियों के भीतरी भाग तक फैली हुई थी। सतलुज तथा सरस्वती नदियों की घाटियों से सिन्धु तथा हड़प्पा सभ्यता के नगरों को पक्की इंटें बनाने के लिये बहुत लकड़ी जाया करती थी। सतलुज नदी के किनारे रोपड़ के पास कोटला निहंग खान में इस सभ्यता के जो अवशेष प्राप्त हुये उन में एक मुहर और कुछ कुल्हाड़ियां भी थी ।[15] सम्भवत: यह मुहरें व्यापार आदि के लिये प्रयोग में लाई जाती होगी ।[16] मोहनजोदड़ों से त्रिमुखय जानवरों की मुहरें भी प्राप्त हुई हैं जिन के सींग हिमालय में पाये जाने वाले जंगली बकरे की तरह हैं ।[17] इस सभ्यता के भग्नावशेषों में देवदार के शहतीरों के स्तम्भ भी मिले हैं ।[18] देवदार का वृक्ष ऊंचे पहाड़ों पर होता है। हिमाचल से इतनी दूरी पर स्थित सिन्धु तथा हड़प्पा सभ्यता के नगरों में देवदार की लकड़ी का पाया जाना इस बात की पुष्टि करता है कि इन नगरों का पर्वतीय प्रदेशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। हिमालय से ही शिलाजीत तथा बारासिंगे के सींग आदि औषधियों के लिये लाये जाते थे।[19] रोपड़ के अर्वाचीन उत्खननों से साफ पता चलता है कि यह सभ्यता देश के बहुत भीतरी भागों में फैल गई थी और सम्भव है कि तब इस का कैन्द्र सरस्वती की घाटी में रहा होगा।

सन १९६४ में महासू जिला के रोहड़ू नामक नगर के पास पब्बर नदी के किनारे चिड़गांव के लिए मोटर सड़क बनाते हुये जब एक खेत को आठ नौ फुट नीचे काटा गया तो उसकी तह में ८×८×३ ईंच के आकार की ईंटों का बना हुआ फर्श मिला जो बहुत ही सुन्दर ढंग से बनाया हुआ था। वहीं पर वर्षा होने के बाद कुछ मिट्टी के खिलौने भी प्राप्त हुये। इन खिलौनों में दो मिट्टी के बने हुये बैल और दो बैलगाड़ी के पहिये हैं। बैलों के कुहान आदि वैसे ही हैं जैसे कि हड़प्पा आदि स्थानों से प्राप्त हुये हैं। पहियों में से एक पहिए पर बेल बूटे का काम किया हुआ है। यहां पर मिट्टी के नीचे मिट्टी के बरतनों के टुकड़े भी बहुत पाये जाते हैं। हिमाचल की इन भीतरी घाटियों में मिट्टी की इन आकृतियों का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि प्रागैतिहासिक काल में यहां के लोगों का सिन्धु तथा सरस्वती सभ्यता के लोगों के साथ आदान-प्रदान था। — क्रमशः

१. मुकर्जी (डॉ०) राधाकुमुद — हिन्दु सभ्यता, दिल्ली, राजकमल प्र०, १९५८ पृ० ९.

२. शर्मा, राम किशोर — संसार की प्राचीन सभ्यताएँ तथा भारत से उनका सम्बन्ध कलकत्ता, आदर्श पुस्तक भण्डार, १९६२ पृ० ३३.

3. Majundar, R. C. — History and culture of India : Vedic age. L. George Allen, 1952 p. 8.

4. Powell-Price, J. C. — History of India, London, Thomas Nelson, 1955 p. 6.

५. शर्मा, राम किशोर — संसार की प्राचीन सभ्यताएँ तथा भारत से उनका सम्बन्ध, कलकत्ता, आदर्श पुस्तक भण्डार, १९६२ पृ० ३५.

6. Sankalia, H. D. — Prehistory and Protohistory of India, Bombay, Asia Pub. House, 1962 p. 16 and 20.

7. (1) Lal, B. B. — Palaeoliths from the Beas and Ban ganga Velleys Punjab (Published in Ancient India : No. 12, 1956) p. 59-92.

(२) सांकलिया, (डॉ०) हंसमुख धी एवं नागर, (डॉ०) मालती, प्रागैतिहासिक काल में पंजाब : पांच लाख साल पहले पंजाब में आदि मानव की संस्कृति, कैसी थी (धर्मयुग १२ मार्च १९७०) पृ० २४-२६.

8. Important : — Stone age discoveries in Kangra District (Tribune, Ambala, 21st November 1963 p. 3 col 3.

9. Guha, Amalendu. — Central Asia, Delhi, Indian council for cultural Relations, 1970, p.16-17

10. Stone age sites discovered in J & K (The Tribune, Ambala, 14th August, 1966.

११. मुकर्जी, (डॉ०) राधा कुमुद — हिन्दु सभ्यता, दिल्ली, राजकमल प्र०, १९५८ पृ० १५ ।

12. India, Archaeological Survey. — Archaeological Remains, Monuments and Museum 2 vols. p. 9-10.

१३ मुकर्जी (डॉ०) राधा कुमुद — प्राचीन भारत दिल्ली················ १९६२ पृ० ८.

१४ वही — हिन्दु सभ्यता दिल्ली, राजकमल, प्र० १९५८ पृ० ३४.

15. Majumdar, R. C. — History and culture of the Indian people: Vedic Age. London, George Allen, 1952. p. 196.

16 ,, ,, — Advance History of India. London, Macmillan, 1961. p. 19.

17. Annals of Bhandarker Oriental Research Institute vol. XXIII 1942. p. 187.

१८ विद्यालंकार, सत्य देव — भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास मसूरी········ ·····१९६० पृ० ७३.

19. Piggott, stuart — Prehistoric India Middlesex, Penguian Books, 1952 p. 172. ●

[पुस्तकालयध्यक्ष, हि० प्र० सचिवालय पुस्तकालय, शिमला-१७१ ००२]

किन्नौरी जनजातीय स्वांगों में लोकमानस

□ डॉ० एन० डी० पुरोहित

पहाड़ी लोक धर्मी नाट्य परम्पराओं में पौराणिक, प्रागैतिहासिक, लीला-नाट्य, संगीतक, रासक, फागु चर्चरी आदि नाना लोकधर्मी नाटय-परम्परायों के सूत्र मिलते हैं। पौराणिक किन्नर जाति के 'होरिङफो' और 'खोन'; प्रागैतिहासिक काल के दानव नृत्य और नाटी; बौद्ध लीलाधर्मी बूचेन नाट्य; रासक फागु और चर्चरी परम्परा के हरणात्र, हरण, बांठड़ा व करियाला जैसे पहाड़ी नाट्य चिरकाल से यहां प्रचलित हैं। पहाड़ी नाटय-परम्परा में स्वांग का सर्वाधिक प्रचलन है। संभवत: आदि मानव की लोकरंजक नाट्य विधा स्वांग के रूप में ही प्रस्फुटित हुई जिसके संकेत वेदों से पूर्व मिलते हैं। प्रो० कोनो ने भी वेदों से पूर्व लोक प्रचलित स्वांगों की परम्परा को स्वीकार करते हुए बताया है कि वेदों के कर्मकांड सम्बन्धी रूपक तत्कालीन लोक प्रचलित स्वांगों से लिए गये थे।

'स्वांग' लोकधर्मी नकल नाट्यों के लिए प्रयुक्त प्राचीनतम शब्द है। इसे मूल का अनुकरण भी कह सकते हैं। मूलत: स्वांग किसी भी ऐसे प्रदर्शन को कहा जाता है जहां जनता को जोड़ कर किसी कथानक को किसी भी रूप में खेल कर मनोरंजन किया जाय। संस्कृत साहित्य में जिस प्रकार 'रूपक' शब्द प्रत्येक मंचीय प्रदर्शन के लिए प्रयुक्त होता रहा है और उसके अनेक भेदोपभेद हुए हैं ठीक उसी प्रकार स्वांग शब्द भी सभी लोक नाटकों के लिए गृहीत हुआ और इसके अनेक क्षेत्रीय प्रादेशिक, जातीय, आनुष्ठानिक, सामाजिक और घुमन्तु भेदोपभेद प्रचलित हुए हैं। हिमाचल प्रदेश के किन्नर समाज में नाना प्रकार के स्वांगों का प्रचलन प्रागैतिहासिक काल से हो रहा है, जिसमें होरिङफो, खोन, चैत्रोल उल्लेखनीय हैं।

चैत्रोल

चैत्रोल किन्नर क्षेत्र का आदिम जातीय त्यौहार है और इस जनपद के अगांव, पांगी, कामरू, व आ आदि गांवों में मनाया जाता है। चैत्र मास

में मनाये जाने के कारण इसे 'चैत्रोल' कहते हैं। इस त्योहार पर 'चैत्रोल' स्वांग का प्रदर्शन होता है। स्वांग प्रदर्शन के लिए प्रत्येक वर्ष पुजारी द्वारा एक विशेष परिवार का व्यक्ति मनोनीत किया जाता है जो अपने सर पर राक्षस का प्रतीक काष्ठ मुखोटा (खोरा) लगा कर देवता के कपड़े पहन लेता है। खोरा मुखोटाधारी स्वांगिये को राक्षस का प्रतिनिधि माना जाता है। उसकी गर्दन के पास विशेष लकड़ी का बना हुआ एक रंग-बिरंगा लिंग लटका कर पेट के नीचे लिंग स्थान पर रस्सी से एक छुन-छुनी बांध दी जाती है। ग्रामीण युवक लिंगाकार लम्बी लकड़ियां (चैत्रोल शिङ) हाथों में लेकर भड़काने वाले अश्लील शब्दों का उच्चारण करते हुए खोरा की गर्दन में लटके हुए लिंग को इधर-उधर हिलाते डुलाते हैं तथा अपने कपड़े उठा-उठाकर उसके साथ अश्लील मज़ाक भी करते हैं। छोटे-छोटे बच्चे तथा युवक खोरा की कमर में बन्धी हुई छुन-छुनी को हिला हिला कर मनमाना अश्लील संभाषण करते हैं। इस रात बच्चे, जवान व बूढ़े सभी व्यक्तियों को अश्लील प्रदर्शन तथा संभाषण की छूट रहती है।

चैत्रौल शिङ धारी व्यक्ति युवतियों के साथ भी अश्लील मज़ाक करते हैं वे इसका बुरा नहीं मानती। इसके बाद खोरा ग्रामीण समुदाय के साथ सन्थङ (देव मन्दिर) जाकर देवता की पूजा करके वादकों को नमस्कार करता है। वादकों के साथ खोरा सारे गांव का चक्कर लगाता है। इस अवसर पर शोकपूर्ण ढंग से शंख बजाये जाते हैं जो नरभक्षी राक्षसों की मृत्यु के सूचक होते हैं। खोरा स्वांगियों द्वारा गांव के चक्कर काटने का अभिप्राय यह बताया गया है कि प्राचीन समय में नरभक्षी राक्षस रात में आकर गांव निवासियों को खा जाते थे। बाद में देवता से समझौते के फलस्वरूप उन्होंने गांव में आना छोड़ दिया। यह स्वांग उस समझौते की खुशी में प्रदर्शित होता है। इस उत्सव पर अश्लीलता पूर्ण प्रदर्शनों का अभिप्राय भी नरभक्षी राक्षसों को भगाना ही होता है। आदिम जातीय संस्कारों में नग्नता प्रदर्शन के द्वारा भूत-प्रेत और राक्षसों के बुरे प्रभावों से रक्षा का जो भाव विद्यमान रहा है यह प्रागैतिहासिक स्वांग उसी भावना का परिचायक है।

बीशू का खोने स्वांग

बीशू हिमाचल प्रदेश के अनेक क्षेत्रों में मनाया जाने वाला वैशाख मास का प्रसिद्ध त्योहार है। किन्नर क्षेत्र में सुङरा, रिब्बा व पांगी गांवों का बीशू बहुत प्रसिद्ध माना जाता है। मेले के पहले दिन आठ व्यक्तियों से युक्त खोने स्वांग का प्रदर्शन होता है। बीशू खोने के अगले भाग में तीन व्यक्ति संयुक्त होते हैं।

पहला व्यक्ति सीधा खड़ा होता है, दूसरा उनकी पीठ के साथ सिर टेक कर झुक जाता है तीसरा पुरुष अपने आगे वाले की कमर पकड़ कर झुक कर चलता है। इन तीनों पुरुषों के संयुक्त आकार को धारीदार कम्बलों से ढक कर आगे वाले पुरुष के आगे काला तथा आधा सफेद रंग से रंगा हुआ भयंकर राक्षस वाला मुखोटा लगा दिया जाता है। इस संयुक्त स्वांग को राक्षस पत्नी बनाने के लिए स्थानीय वस्त्र दोहड़ू तथा गहने आदि पहनाकर काले तथा पीले रंग के मुखौटे से ढक दिया जाता है। यह स्वांग रूप 'छेच् खोन' अर्थात् 'स्त्री राक्षस' कहलाता है। इसके बनावटी मुंह में एक बच्चा दिखाया गया होता है जो इस बात का प्रतीक है कि यह राक्षसी बच्चों को खाती थी। इनके अतिरिक्त बाघ, भालू और कुत्ते की वीभत्स आकृति वाले तीन राक्षस मुखौटाधारी स्वांगिये भी बनाये जाते हैं जिन्हें स्थानीय भाषा में क्रमश: 'थर खोन' 'होम खोन' और 'कुई खोन' कहते हैं। स्थानीय देवालय के बाहर प्रांगण में मेशुर-नारायण आदि लोक देवताओं को सजाकर बैठा दिया जाता है तथा सारा गांव वहां एकत्र होता है। बाघ, भालू व कुत्ते रूपी राक्षस मुख्य स्वांग 'मङ स्यालस' तथा 'छेच खोन' के पीछे प्रांगण में भागते हुए मुंह बनाकर अश्लील तथा भद्दी हरकतें करते हैं। लोक देवताओं के सामने जाकर भी स्वांगिये अश्लील हरकतें व संभाषण करते हैं, उपस्थित जनसमुदाय भी इस कार्य में उनका जी भरकर साथ देता है। बताया जाता है कि कुछ वर्ष पूर्व तक 'चैत्रोल शिङ' की भांति लिंग प्रतीकात्मक लकड़ियां अश्लीलता प्रदर्शन के निमित्त इस मेले में भी लायी जाती थीं परन्तु अब यह प्रथा समाप्त हो गयी है। इस प्रदर्शन के समाप्त होने पर सभी स्वांगधारी अपने-अपने मुखोटों को जिन्हें स्थानीय भाषा में 'ख्वर' कहते हैं, सिर पर रख कर विशिष्ट पदचाप व गायन-वादन के साथ राक्षस-नृत्य करते हैं। नाचते हुए चीख-चीख कर 'गिदादा' 'होइग्रियागो' जैसे स्थानीय शब्दों में अश्लील गाली गलौच करते हैं। मुखोटों को स्थानीय भाषा में ख्वर कहा जाता है। इस स्वांग के सम्बन्ध में बताया जाता है कि प्राचीन समय में राक्षस भाई-बहिन के आतंक से इस गांव के लोग बहुत भयभीत रहते थे। उन्हें भगाने के लिए ही ऐसा प्रदर्शन होता था। राक्षस भाई-बहन के समक्ष ऐसी अश्लील हरकतें की जाती थीं कि वे उसे सहन न कर पाते और भाग खड़े हो जाते थे। 'छेच् खोन' को राक्षस भगिनी का प्रतीक माना जाता है। नृत्य की समाप्ति पर वादक तांबे की तुरी 'बुखारिङ' पर शोकपूर्ण धुन बजाकर राक्षस की मृत्यु की घोषणा कर देते हैं। इसके साथ ही स्वांगिये 'खोने' अपना-अपना मुखोटा हाथों में लेकर मन्दिर के पास बने एक ऊंचे चबूतरे पर चले जाते हैं। 'छेच् खोन' अपना दोहड़ू उठाकर अश्लील संकेत करते हुए पीठ के बल चबूतरे

पर लेट जाती है तब अन्य दोनो में से एक पुरुष जाकर वैसी ही हरकतें करते हुए उसके साथ यौनाचार का प्रदर्शन करता है। उपस्थित जन समुदाय उन पर फूलों की वर्षा करके अपने घरों की ओर प्रस्थान करता है। इस स्वांग में भी अश्लील प्रदर्शन द्वारा राक्षस के भय से मुक्ति का आदिम जातीय संस्कार द्रष्टव्य है।

होरिङ फो

'होरिङफो' किन्नर समाज का एक ऐसा प्रागैतिहासिक स्वांग है जिसके कारण यह जाति 'हरिणनर्तक' के नाम से जानी जाती है। 'होरिङ फो' किन्नौरी भाषा का शब्द है जिसका शाब्दिक अर्थ है हरिण का ठेला। दो व्यक्तियों के संयुक्त स्वांग होरिङ फो में एक खड़े व्यक्ति की पीठ पर दूसरा व्यक्ति अपना सिर लगा कर झुक जाता है। दोनों व्यक्तियों को इसी स्थिति में दोहड़ू या अन्य किसी वस्त्र से ढक लिया जाता है। आगे वाला व्यक्ति सहारे के लिए अपने दोनों हाथों में लाठियां पकड़ लेता है जो दोहड़ू से ढकी रहती हैं। इस व्यक्ति के सिर पर वीभत्स राक्षस का दो बड़े-बड़े सींगों वाला मुखौटा लगा दिया जाता है। एक अन्य पुरुष स्त्री वेश-भूषा में वीभत्स मुखोटे से चेहरा ढांप कर होरिङ फो की पत्नी का स्वांग धारण करता है। देवालय के दालान में अथवा बाहर किसी खुले स्थान में जलती हुई लकड़ियों के घेने के चारों ओर घेरा बनाकर लोग प्रदर्शन देखने के लिए बैठ जाते हैं। घेरे के बीच में होरिङ फो प्रदर्शन के लिए जगह खाली छोड़ दी जाती है। विचित्र प्रकार के वीभत्स जानवर की सी आकृति वाला होरिङ फो ढोल की आवाज पर आगे व पीछे कदम रखता हुआ विशिष्ट भाव भंगिमा के साथ घेरे में पहुंच कर कामातुरता का प्रदर्शन करता है तभी उसकी पत्नी भी नाचती हुई वहां आकर भद्दी हरकतें करती हुई अपना दोहड़ू उठाकर भूमि पर कमर के बल लेट जाती है और होरिङ फो उसके साथ काम केलि प्रदर्शित करता है। इस नग्नता प्रदर्शन स्वांग का अभिप्राय भी राक्षस तथा भूत प्रेतों को भगाना ही है। स्वांग प्रदर्शन की समाप्ति पर स्वांगिये अपना मुखोटा तथा वस्त्र देवालय के पुजारी को सौंप कर साधारण कपड़ों में पुनः जन समूह के समक्ष आते हैं जहां सभी स्त्री पुरुष मिल कर सामूहिक नृत्य-गायन करते हैं।

पहाड़ी लोक रंग प्रागैतिहासिक जनजातियों की सांस्कृतिक विरासत और आदिम लोकमानस की स्फूर्त चेतना के मूर्तरूप हैं। इनमें प्रागैतिहासिक लोक-मानस की अनुकरण मूलक प्रवृत्तियों एवं संस्कारों की झलक द्रष्टव्य है। ●

[राजकीय महाविद्यालय नालागढ़, हि० प्र०]

आयोजन

छाया चित्र प्रदर्शनी

पिछले दिनों शिमला के गेयटी हॉल में विभाग द्वारा सुरेश चन्द्र शर्मा के छाया-चित्रों की प्रदर्शनी लगाई गयी। 'शिमला थ्रू माई लैंज़' शीर्षक के अन्तर्गत आयोजित इस प्रदर्शनी में छायाकार के ९५ ऐसे छाया-चित्र प्रदर्शित किए गये जिनमें शिमला तथा इसके आस-पास के क्षेत्रों के जन जीवन को समेटने का प्रयास किया गया था। प्राकृतिक उपादानों में सजीव होती आकृतियों को संजोए हुए चित्रों की विशेष सराहना हुई।

हिमाचल के दल का हरियाणा भ्रमण

हिमाचल प्रदेश का चालीस सदयीय सांस्कृतिक दल अन्तर्राज्य सांस्कृतिक आदान-प्रदान योजना के अन्तर्गत २१ फरवरी से २ मार्च तक हरियाणा के भ्रमण पर रहा। इस दल ने चंडीगढ़, कैथल, जिन्द, भिवानी, नारनौल, गुड़गांव व करनाल में अपना कार्यक्रम प्रस्तुत किया। पारम्परिक लोक संगीत, नृत्य एवं नाट्य पर आधारित इस कार्यक्रम में ठोडा, नवाला व करियाला के दृश्यों के साथ चम्बा से लेकर शिमला की पहाड़ियों तक के लोक नृत्य भी सम्मिलित थे।

पहाड़ी साहित्य समारोह

बिलासपुर के किसान भवन में २७ मार्च, १९८५ को विभाग द्वारा पहाड़ी भाषा-साहित्य समारोह का आयोजन किया गया। पहले सत्र में लेखक गोष्ठी हुई जिसमें डॉ० हरिराम जसटा ने 'हिमाचल के लोक देवता : आस्था के बदलते चरण' विषय पर पत्र पढ़ा। बहस में भाग लेते हुए प्रो. चन्द्र बर्कर ने कहा कि पहाड़ यातायात के लिए खुलते जा रहे हैं और इसी के साथ यहां की पारम्परिक संस्कृति को भी दखल पहुंच रहा है जिसके फलस्वरूप देवताओं के प्रति हमारे लोगों की आस्था क्षीण पड़ती जा रही है। डॉ० बंशी राम शर्मा, अमृत कुमार शर्मा, डॉ० बी० डी० काले, नवीन हलदूणवी, पूर्ण सिंह ठाकुर तथा देवेन्द्र सिंह कश्यप ने भी परिचर्चा में भाग लिया। गोष्ठी की अध्यक्षता अतिरिक्त जिला मैजिस्ट्रेट श्री बलराम ने की।

दूसरे सत्र में सांय पहाड़ी कवि गोष्ठी का आयोजन था, जिसकी अध्यक्षता विधि एवम् युवा सेवा राज्य मन्त्री श्री राम लाल ठाकुर ने की। इस गोष्ठी में तीस के लगभग पहड़ी कवियों ने अपनी कविताएं पढ़ीं। कवि गोष्ठी का संचालन डॉ० पीयूष गुलेरी ने किया। ●

सुरेश चन्द्र शर्मा के छायाचित्रों की प्रदर्शनी देखते हुए मुख्यमन्त्री श्री वीरभद्र सिंह
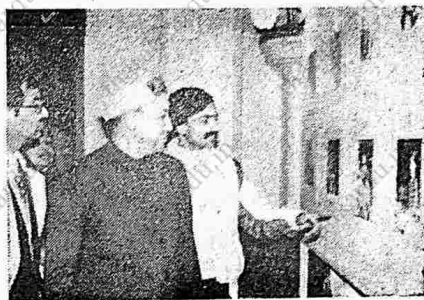
शिमला के गेयटी हॉल में राज्य कला प्रदर्शनी का आयोजन हुआ, अन्य लोगों के साथ प्रदर्शनी को देखते हुए आयुक्त एवं सचिव (भाषा-संस्कृति) श्री महाराज कृष्ण काव

VIPASHA-I March-April, 1985

पहला अंक/मार्च-अप्रैल, १९८५

चतुर्मुखी विष्णु : हरिराय मंदिर चंबा

श्रीनिवास जोशी, निदेशक, भाषा एवं संस्कृति विभाग, हिमाचल प्रदेश, शिमला-१
द्वारा प्रकाशित तथा
लोकेश सूद, भारतेन्दु प्रिंटिंग प्रैस, लोअर बाज़ार, शिमला-१ द्वारा मुद्रित।